महिला-माला-मणि ७०

ग्रंथागार, लखनऊ.

शिशु-पालन

(२५ चित्र-सहित)

५५/१२०

लेखक
वैद्यराज श्रीअत्रिदेव गुप्त विद्यालंकार, भिषग्रत्न
(स्वास्थ्य-विज्ञान और धात्री-शिक्षा
के रचयिता)

१६६३८/३-११-५६
४२३१८

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

प्रथम संस्करण

सजिल्द २॥)] संवत् १९९६ वि० [सादी २)

स्मृति-चिह्न

वक्तव्य

वैद्य श्रीअत्रिदेवजी गुप्त हिंदी के अच्छे लेखक हैं। आपने कई पुस्तकें हमारे लिये लिखी हैं। धात्री-शिक्षा निकल चुकी है। शिशु-पालन पाठकों के हाथ में है। इनके अलावा स्वास्थ्य-विज्ञान को भी हम छाप रहे हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शिशु-पालन का विषय कितने महत्त्व का है। शिशु का स्वास्थ्य माता-पिता के स्वास्थ्य पर निर्भर है। अच्छे बीज से अच्छे वृक्ष की उत्पत्ति होती है। भारतवर्ष को योग्य संतान की कितनी आवश्यकता है, यह सभी जानते हैं। जाति-पाँति का भेद-भाव छोड़कर, गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार योग्य, स्वस्थ स्त्री-पुरुषों का विवाह हो, और उनसे उत्पन्न शिशुओं का वैज्ञानिक रूप से पालन हो, तो देश में २० वर्ष के अंदर लाखों वीर युवक-युवतियाँ उत्पन्न हो जायँ, जो शीघ्र ही भारतमाता को स्वतंत्र कर लें।

यदि इस पुस्तक से हमारी माताएँ और बहनें अपने शिशुओं का पालन करने में कुछ भी लाभ उठा सकीं, तो लेखक का और हमारा श्रम सफल हो जायगा, और हम शीघ्र ही लेखक की और पुस्तकें लेकर आपके सम्मुख उपस्थित होंगे।

कवि-कुटीर
लखनऊ, १० । २ । २९

दुलारेलाल भार्गव

सूची

चौथा प्रकरण—

पाँचवाँ प्रकरण

चित्र-सूची

शिशु-पालन

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

शिशु का महत्त्व

शिशु या पुत्र की प्राप्ति जितनी कठिन है, उसका पालन उससे भी अधिक कठिन एवं परिश्रम-साध्य है। रुपया

चित्र नं० १

प्यारा शिशु

कमाना उतना कठिन नहीं, जितना उसका संरक्षण करना।

प्राचीन साहित्य में पुत्र को स्वर्ग का देनेवाला कहा है। जिसके पुत्र नहीं, उसका किया हुआ दान, धर्म, यज्ञ, अध्ययन, तप और जो भी अन्य पवित्र मोक्ष के देनेवाले कर्म हैं, वे सब निष्फल हैं। अतः मोक्ष एवं स्वर्ग के लिये पुत्र का होना आवश्यक है।

जिसकी गोद पुत्र-रत्न से खाली है, उस दंपति के लिये स्वर्ग का द्वार भगवान् व्यास ने सर्वदा के लिये बंद कर दिया है *।

'पुत्र' (पुं नरकात् त्रायते इति पुत्रः) स्वर्ग को देता है, यह विश्वास चिरकाल से आज तक बना हुआ है। विशेषतः हिंदू-समाज में श्राद्ध के समय इसकी सत्यता आँखों से देखी जा सकती है।

यह विश्वास तो पारलौकिक है, परंतु इस लोक में पुत्र से स्वर्ग प्राप्त होता है, इस बात की प्रामाणिकता मध्यकालीन कविसमूह और अर्वाचीन पुरुष-रत्न करते हैं।

जिस प्रकार शिष्य से गुरु की धवल कीर्ति का विस्तार होता

---

* इष्टं दत्तमधीतं वा यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ;
सर्वं तदपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।
तपो वाऽप्यथवा यज्ञो यच्चान्यत्पावनं महत् ;
तत्सर्वमपरं तात न सन्तत्या समं मतम्।
सन्तानो हि परो धर्म एवमाह पितामहः।
(महाभारत)

है, उसी प्रकार पुत्र से पिता-माता का नाम चमकता है। प्रसिद्ध कवि बाण अपने वंश एवं पिता को, भगवान् कृष्ण वसुदेव को, अर्जुन पांडु को, राम दशरथ को सदा के लिये अजर-अमर बना गए।

इसी कीर्ति का महत्त्व क्षत्रिय-पुत्र अर्जुन के लिये कहे हुए "संम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते" इस कृष्ण-वाक्य से प्रतीत हो जाता है।

जिस प्रकार हीरे या मोती को देखकर स्वभावतः उसके आदि-स्रोत का पता लगाने की इच्छा होती है, उसी प्रकार मनुष्य-रत्न को भी देखकर उसके आदिम स्रोत को जानने की आकांक्षा होती है। यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि किस सौभाग्यवती माता की कोख को इसने पवित्र किया। कारण, पुत्र क्या है ? निर्मल सरोवर में आत्मा का प्रतिबिंब ही है। प्रतिबिंब को देखकर वास्तविक वस्तु का पता लगाना आवश्यक प्रतीत होता है *।

इस बात की प्रामाणिकता को एक और भी बात सिद्ध करती है। कई स्थानों में प्रथा है कि पिता का नाम अपने नाम के आदि या अंत में सदा संबंधित रक्खा जाता है। यह प्रथा आधुनिक नहीं, अपितु पाणिनि से भी पूर्व की (२ हज़ार

---

* कामान्मिथुनसंयोगे शुक्रशोणितयोगजः ;
गर्भः सञ्जायते नार्यां स जातो बाल उच्यते। (शार्ङ्गधर)

वर्ष से भी पूर्व की) है। कारण, उन्हें इसके लिये सूत्र बनाने पड़े हैं। यथा "आत्रेयगार्ग्यः" आदि।

नेपोलियन के कार्यों को देख-सुनकर उसकी उत्पत्ति का इतिहास जानने की इच्छा रखना मनुष्य-मात्र के लिये स्वाभाविक है।

इसके अतिरिक्त पुत्र से जहाँ दंपति को वैयक्तिक लाभ है, वहाँ देश और जाति को भी अति लाभ है। इसलिये किसी ने कहा है कि शिशु राष्ट्र के पिता (Child is the father of nation) होते हैं।

जिस देश में जितने अधिक शिशु होंगे, वह देश उतना ही ऐश्वर्यशाली, शिक्षा में उन्नत, सौभाग्यवान् और शक्तिशाली होगा। कारण,

१. उस देश में अधिक सैन्य-शक्ति प्राप्त हो सकती है।

२. क्षेत्र के विस्तृत होने से उत्तम मस्तिष्क का होना संभव है।

३. जन-संख्या की वृद्धि के कारण वह देश व्यापार में सबसे बढ़ सकता है। वह देश संपत्तिशाली होगा *। इन वाक्यों की सत्यता इटली के राष्ट्रपति, वर्तमान काल के नेपोलियन, मुसोलिनी की घोषणा से प्रमाणित है। उसने अविवाहितों

---

* इसमें देश की स्वतंत्रता भी अवश्य अपेक्षित है। उदाहरण के लिये भारत और इटली की तुलना की जा सकती है।

पर राजकीय कर लगाते हुए यह स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि "यदि मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ कि इटली की जन-संख्या और अधिक बढ़ानी चाहिए, तो मैं उन दंपतियों पर भी राजकीय कर लगाने में कुछ भी विचार नहीं करूँगा, जिनके संतति नहीं है।"

5239

जर्मनी की जन-संख्या गत योरपियन महायुद्ध में और देशों की अपेक्षा अधिक थी, यही कारण है कि वह चिर काल तक इतनी शक्तियों के सामने खड़ा रह सका। जन-संख्या की वृद्धि सैन्यशक्ति की वृद्धि में ६६ प्रतिशत कारण है।

गत महायुद्ध के पश्चात् फ़्रांस ने यह आवश्यक समझा कि जन-संख्या को बढ़ाया जाय। इसके लिये उसने पारितोषिक देने की घोषणा की। विवाहों के लिये सुगमता कर दी। जो पुरुष निश्चित संख्या से अधिक संतान उत्पन्न करते थे, उन्हें पारितोषिक दिया जाता था, जिसके प्रलोभन से लोगों में जन-संख्या वृद्धि करने की अभिलाषा स्वाभाविक रूप में बढ़ती थी। राष्ट्र ने उनकी शिक्षा और पालन-पोषण का भार अपने ऊपर लेना स्वीकार किया। मनुष्यों की एक बड़ी समस्या हल हो गई। राष्ट्र में सैन्य-वृद्धि हो गई।

शिशु या पुत्र उत्पन्न न हो, या उत्पन्न होकर नष्ट हो जाय, इस बात की एक ही क़ीमत है। रुपया न आवे या आकर निकल जाय, यह भी एक ही बात है। उद्देश्य की सिद्धि प्राप्त

हो, इसके लिये दोनो का अस्तित्व (पालन-संरक्षण) आवश्यक है, जो उत्पत्ति से कहीं कठिन है।

यही कारण है कि आर्यों के धर्मशास्त्र में माता का स्थान हजारगुना ऊँचा बतलाया गया है*। उसकी पूजा सबसे ऊँची रक्खी गई है। उसका आसन इतनी उँचाई पर रक्खा है, जहाँ कोई पहुँच नहीं सकता।

गर्भाधान के पश्चात् पिता का कार्य एक प्रकार से समाप्त हो जाता है। माता का कार्य बढ़ जाता है। उसे ९ मास तक पेट में रखकर अपने शरीर के भाग से गर्भ का पालन करना पड़ता है। उत्पत्ति के पश्चात् ९ या १२ मास अपने स्तन से उसका पोषण करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में शिशु का जीवन माता के ऊपर ही आश्रित है। शिशु की आयु प्रथम १२ मास ही मानी गई है। अतः उसकी आयु माता के ऊपर निर्भर है। दो शरीर और एक आत्मा का जीवन व्यतीत होता है।

बाल-मृत्यु

शिशु को बालक नाम या संज्ञा उस समय दी जाती है, जब वह जीवितावस्था में गर्भाशय से पृथक् हो जाता है, जिस समय उसमें रक्त-संचार स्वतंत्र रूप से होना आरंभ हो जाता है।

---

* उपाध्यायान्दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता ;
पितॄणां सहस्रं माता गौरवेणातिरिच्यते । (मनुः)

अब यदि किसी भी कारण मृत्यु होती है, तो वह बाल-मृत्यु है। यह समय कुछ विचारक एक वर्ष तक मानते हैं, और दूसरे इसको तीन साल में समाप्त करते हैं *।

साधारणतः मृत्यु-संख्या प्रथम बारह महीनों में ही अधिक होती है। जिस प्रकार गर्भपात या गर्भस्राव प्रथम तीन मास में अधिक होते हैं, उसी प्रकार बाल-मृत्यु भी उत्पत्ति के प्रथम मास में सबसे अधिक होती है। इस मास में मृत्यु होने के मुख्य कारण ये हैं—

१. ९ मास, निश्चित समय से पूर्व प्रसव।

२. पैत्रिक विकार।

३. वंश-परंपरागत अभिरुचियाँ, मद्य-पान।

४. प्रसव के समय अशुद्ध चिकित्सा, नाभिनाल का संक्रमण, टैटिनस आदि रोग।

५. पोषण की अशुद्धता।

६. भोजन की त्रुटियाँ।

इनके अतिरिक्त, तथा एक मास की आयु के पश्चात्, मृत्यु होने के कारण—

७. अस्वच्छता।

---

* बालक तीन प्रकार के हैं—'क्षीर-भोजी', 'क्षीरान्न-भोजी' और 'अन्न-भोजी'। एक साल तक क्षीर-भोजी, दो साल तक क्षीरान्न-भोजी एवं तीसरे वर्ष में अन्न-भोजी होते हैं। (सुश्रुत)

८. दरिद्रता।

९. माता की अनभिज्ञता।

१०. श्वास-मार्ग के रोग यथा कास, निमोनिया, खसरा, चेचक, अतिसार आदि।

समय से पूर्व प्रसव

साधारणतः प्रसव का समय २८० दिन है। इससे पूर्व प्रसव (७ मास तक का भी) उचित साधनों द्वारा जीवित रक्खा जा सकता है। परंतु जिस प्रकार अपक्कावस्था में तोड़ा या स्वयं गिरा फल स्वाद और रस में समय पर गिरे या तोड़े हुए फल को नहीं पहुँचता, उसी प्रकार २८० दिन से पूर्व उत्पन्न शिशु भी अपूर्ण, निर्बल और अस्वस्थ रहता है। वह समय पर उत्पन्न शिशु से सदा निर्बल रहता है। वह थोड़े भी परिवर्तन को सहन नहीं कर सकता। सब परिस्थितियाँ उस पर शीघ्र प्रभाव दिखाती हैं। वह सदा रुग्ण रहता है। निमोनिया और कास का सदा भय बना रहता है, और इनमें से कोई रोग आकर उसे माता की गोद से छीन लेता है।

समय से पूर्व प्रसव के कारणों में से पंद्रह आना कारण माता से संबंधित हैं। यथा—(१) बाल-विवाह, (२) छोटी आयु में गर्भवती हाना, (३) शीघ्र-शीघ्र गर्भवती होना, (४) वस्तिगह्वर का तंग होना, (५) नाजुक शरीर, (६) परिश्रम का अभाव और (७) वस्त्रों के दोष।

बाल-मृत्यु के कारण

प्रायः कम (१०० में से ३) अवस्थाओं में ऐसा होता है, जब पति की आयु पत्नी से कम हो, अन्यथा पति और पत्नी की आयु में सदा ४ वर्ष से अधिक अंतर होता है। इससे स्पष्ट है कि कन्याओं का विवाह कुमारों की अपेक्षा अधिक होता है। कन्याओं का विवाह प्रायः ८ से १२ वर्ष की आयु में, और कुमारों का १४ से १८ वर्ष की आयु में हो जाता है।

यह आयु न तो कुमार के लिये उत्तम है, और न कुमारी के लिये। जिस प्रकार अपूर्ण रस-वीर्यवाला वृक्ष उत्तम, पूर्ण बीज उत्पन्न नहीं कर सकता, उसी प्रकार अपूर्ण आयु के स्त्री-पुरुष पूर्ण स्वस्थ संतान उत्पन्न नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त—

(१) वस्तिगह्वर के अपूर्ण और अविकसित होने तथा गर्भाशय एवं गर्भाशय की आठों पेशियों के निर्बल होने से गर्भाशय १९½ इंच लंबे शिशु को अपने अंदर रखने में असमर्थ होता है, जो स्वाभाविक है। कारण, प्रकृति नहीं चाहती कि वह इस समय इतने बोझ को सहे, अतः वह उसे उचित, प्राकृतिक उपायों से बाहर करने का प्रयत्न करती है। यदि वह प्रसव हो गया, तो उत्तम है, और यदि नहीं हुआ, तो घूमता हुआ ऐसी स्थिति (तिर्यक्-स्थिति—Transverse Position) में आ जाता है कि प्रसव के समय बाधा उत्पन्न

कर देता है। यह बाधा माता या शिशु के लिये घातक सिद्ध होती है।

(२) स्वास्थ्य गिर जाता है। अपने शरीर की वृद्धि के लिये भोजन चाहिए। कारण, ३० वर्ष तक शरीर की वृद्धि होती रहती है, और तभी पूरी जवानी आती है। माता-पिता को जब अपूर्ण अवस्था में नई सृष्टि उत्पन्न करने के लिये परिश्रम करना पड़ता है, तो शरीर निर्बल हो जाता है। विशेषतः माता का, जिससे शीघ्र ही चेहरे का गुलाबी रंग पीले रंग में बदल जाता है। आँखों की चमक जाती रहती है, सौंदर्य का स्थान काली रेखा ले लेती है, और जवानी का स्थान बुढ़ापा छीन लेता है।

(३) इस अबोध अवस्था में माता-पिता अपना उत्तरदायित्व नहीं समझते। यही कारण है कि इस समय जो संतति उत्पन्न होती है, वह उत्पन्न की नहीं जाती, वरन् स्वयं उत्पन्न हो जाती है, जिस तरह बरसात में मच्छड़ और गेंड़वे (Earthworm)। उनके लिये न तो कोई संतति का महत्त्व होता है, और न वे उसके लिये उत्तरदायित्व समझते हैं। चूँकि वह शिशु अब संसार में आ गया है, उसका फ़ोटो एक्सप्लेट पर आ चुकता है, अतः वे उसे लेने को बाध्य होते हैं। यह प्रतिबिंब केवल प्लेट तोड़ने पर ही नष्ट हो सकता है। यही कारण है कि माताएँ गर्भपात या गर्भस्राव के उपाय काम में लाती हैं। इसके द्वारा जहाँ उनकी अभिलाषा पूर्ण हो जाती है, वहाँ वह अबोध

शिशु भगवान् से यह भी प्रार्थना करता जाता है कि माता को इसका कठोर दंड देना—मेरा पूर्ण न्याय करना।

दीन की आह आग से भी गरम होती है। उसकी साँसों को समुद्र का पानी भी नहीं बुझा सकता। भगवान् उसे सुनते हैं। वह माता को इस प्रकार के रोग दे देते हैं कि तड़प-तड़पकर प्राण देती है। पुत्र की इच्छा होने पर भी वह अब संतति का मुख इस लोक में नहीं देख सकती। उसका घर दवाओं की दूकान बन जाता है—डॉक्टरों के लिये रुपया कमाने का स्थान हो जाता है। बच जाने पर उसके गर्भाशय-भ्रंश आदि रोग हो जाते हैं, जिससे गर्भ-स्थिति असंभव हो जाती है। और, यदि कभी हो भी गई, तो भगवान् उसे उस रत्न के योग्य न समझकर उसकी इच्छा के विना ही उसे उससे छीन लेते हैं। अब उसकी आँखें खुलती हैं, वह साधु-संतों की सेवा करती है, दान-पुण्य आरंभ करती है; परंतु सब निष्फल।

यह बात जिस प्रकार स्त्रियों के साथ है, उसी प्रकार पुरुषों के साथ भी होती है। पुरुषों का मस्तिष्क स्त्रियों से बड़ा अवश्य है। उसमें भूरा पदार्थ (Gray matter) अधिक होता है। उसकी कंचुलियाँ (Convolutions) अधिक गहरी होती हैं। परंतु वह भी २१ वर्ष से पूर्व संपूर्ण नहीं होता। उस समय तक सत्-असत्-विवेक की बुद्धि नहीं उत्पन्न होती। बुद्धि अनिश्चित, अस्थिर, पानी में नौका की भाँति डामाडोल रहती है। यौवन की बढ़ती कला होती है, अतः मनुष्य का गिरना

स्वाभाविक हो जाता है। विशेषतः यदि विवाह शीघ्र हो जाय या साथी ऐसे ही मिल जायँ।

मनुष्य बाज़ार से या अन्य स्थान से पैसों-रुपयों के बदले औपसर्गिक रोग (Veneral disease) ख़रीद लाता है, और अपनी प्राणों से प्यारी धर्मपत्नी को दे देता है। बस, थोड़े-से पैसों में वंश के नाश का बीज ख़रीदकर बो दिया जाता है। ये रोग वंश में स्थिर हो जाते हैं। इनके कारण या तो गर्भ-स्थिति होती ही नहीं, और यदि हो गई, तो ये रोग स्थिर हो जाते हैं, जिनके कारण शिशु उत्पन्न होकर मर जाता है।

ये रोग प्रायः उन्हीं में मिलते हैं, जिनके विवाह छोटी आयु में हो जाते हैं। कारण, कामेच्छा को बचपन से ही उत्तेजना मिल जाती है, जिससे वह प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। अतः इच्छा को पूर्ण करने के लिये सामग्री को ढूँढ़ना स्वाभाविक हो जाता है, जिसकी पूर्ति बाज़ार इत्यादि से होती है *। इसी समय मद्य-पान आदि और भी व्यसन अपना मार्ग बना लेते हैं।

छोटी आयु में गर्भवती होना या शीघ्र-शीघ्र गर्भवती होना, ये दोनों ही अवस्थाएँ अभिप्रेत नहीं। इन दोनों ही अवस्थाओं में गर्भाशय निर्बल हो जाता है। जिस अंग से अधिक और

* न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ;
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च।

जल्दी-जल्दी काम लिया जाता है, वह निर्बल एवं अंत में क्षीण होने लगता है। उसी प्रकार यह गर्भाशय अब गर्भ को धारण नहीं कर सकता, यदि धारण भी कर लेता है, तो उसे शीघ्र ही च्युत कर देता है। अतः धर्मशास्त्र के अनुसार १६ और २५ वर्ष की आयु में विवाह-संबंध करके २३ वर्ष के अंतर से गर्भ धारण करने का विधान है।

वस्तिगह्वर का तंग होना

जब तक प्रकृति कन्या को गर्भधारण के योग्य न बना दे, तब तक गर्भ धारण करना प्रकृति के कार्य में हस्तक्षेप करना है। प्रकृति अत्यंत क्रूर है। वह इस हस्तक्षेप का कठोर दंड देती है। या तो वह माता के या शिशु के प्राण लेकर शांत होती है। अतः आवश्यक है कि पूर्णवयस्का, स्वस्थ कन्या से विवाह किया जाय।

वस्त्रों के दोष

तंग वस्त्रों के पहनने से (विशेषतः कोष्ठ और कटि पर) रक्त-संचार का अवरोध होता है; और उत्पादक अंगों में रक्त-वृद्धि होने से मैथुनेच्छा बढ़ती है। उसकी शांति के लिये किया गया संभोग इस समय स्थायी या अस्थायी हानि उत्पन्न कर देता है। प्रकृति नहीं चाहती कि संभोग हो। अतः वह गर्भाशय का द्वार और ऋतु-धर्म बंद कर देती है। कारण, पशु भी ऋतु-काल में संभोग करते हैं, अतः इस समय का संभोग रोग उत्पन्न कर देता है। इसके

अतिरिक्त वस्त्रों के तंग होने से गर्भ का पोषण भी उचित रीति से नहीं होता, जिसके कारण शिशु निर्बल रहता है, और जब उत्पन्न होता है, तो निर्बल ही उत्पन्न होता है। अतः आवश्यक है कि वस्त्र ढीले हों, जिससे रक्त-संचार में बाधा न आवे।

परिश्रम का अभाव

जिसने कभी परिश्रम नहीं किया, वह भार से डरता है। जिसमें शक्ति नहीं, वह बोझ को नहीं उठा सकता। ऐसी अवस्था में आवश्यक है कि या तो प्रसव २८० दिन से पूर्व हो, अथवा निर्बल, अस्वस्थ, रोगी शिशु उत्पन्न हो। इस प्रकार का शिशु क्या प्रकृति की आँधी और सर्दी-गर्मी का सामना कर सकता है? माता क्या उसका पोषण करेगी? उसके स्तनों में दूध कहाँ से आएगा? भोजन उसे ही शक्ति देता है, जिसका भोजन पच जाय। व्यायाम के विना भोजन का पचना असंभव देखकर ओषधियों का उपयोग आरंभ होता है। इसका परिणाम यह होता है—

(क) शिशु को कृत्रिम या धात्री का दूध देना पड़ता है।

(ख) शिशु को ओषधियों की आदत जन्म से ही पड़ जाती है।

(ग) शिशु थोड़े-से भी भोजन को नहीं पचा सकता।

(घ) विना स्पष्ट कारण के भार क्षीण हो जाता है, और अंत में माता की गोद सूनी हो जाती है।

अतः व्यायाम जहाँ अपने लिये आवश्यक वहाँ है,

पुत्र-रत्न के लिये भी आवश्यक है। संक्षेप से बालविवाह के कारणों से बचने के लिये आवश्यक है—

(१) विवाह २५ और १६ वर्ष से पूर्व न किया जाय, (२) तंग वस्तिगह्वरवाली स्त्रियाँ गर्भ धारण न करें, (३) गर्भ-स्थिति में कम-से-कम ३ साल का अंतर चाहिए, (४) वस्त्र ढीले होने चाहिए और (५) व्यायाम अवश्य करना चाहिए।

पैत्रिक विकार

कई माताओं में गर्भपात की अभिरुचि होती है। इसका कारण वंश-परंपरागत अथवा कोई जन्म की निर्बलता या विकार होता है। उसी निर्बलता या विकार के कारण शिशु समय से पूर्व उत्पन्न हो जाता है। यह निर्बलता रोग-जन्य भी हो सकती है। उदाहरण के लिये शिशु के जन्म-दाता माता-पिता दोनों को अथवा उनमें से एक को यदि श्वास-प्रणाली एवं फुफ्फुस का रोग है, तो उत्पन्न शिशु के भी ये अवयव रुग्ण एवं निर्बल होंगे। कारण, वीर्य और रज में इनका प्रतिनिधि रुग्णावस्था में जाकर मिला है, जिससे यह रुग्ण उत्पन्न होता है। अब यदि शहर की अशुद्ध वायु एवं अस्वच्छता तथा सर्दी या गर्मी का आक्रमण हो जाता है, तो शिशु शीघ्र ही (निबल होने के कारण) आक्रांत होकर, माता-पिता को रोता हुआ छोड़कर चला जाता है। अथवा कई जन्म के रोग शिशु के उत्पन्न होने पर प्रबल होकर उसकी मृत्यु का कारण बन जाते हैं, यथा उपदंश,

कामला आदि। जिस पिता को मृगी का रोग होता है, शिशु में भी यही रोग अवश्य आवेगा।

वंश-परंपरागत अभिरुचियाँ

यदि किसी शिशु के माता-पिता किसी व्यसन में फँसे हैं, तो वही व्यसन शिशु में भी आवेगा। साथ ही पिता से भी शीघ्र उसमें आरंभ हो जायगा। अर्थात् यदि माता-पिता १६ वर्ष की आयु में मद्य-पान करने लगे हैं, तो शिशु भी १६ वर्ष से पूर्व ही शराब की दूकान का मुख देखने लगेगा। वह शुरू से ही जाम का आनंद अनुभव करने लगता है *।

जहाँ ये अभिरुचियाँ आती हैं, वहाँ इन अभिरुचियों के दुष्परिणाम भी अवश्य आते हैं। यथा मद्य-पान के कारण यकृत-रोग, उन्माद (मस्तिष्क-विकार), अपस्मार आदि। इन रोगों में से कोई एक बढ़कर घातक हो जाता है।

प्रसव के समय की अशुद्धता

शिशु खिलता हुआ फूल होता है। उसके अंदर प्रतिरोध की शक्ति बहुत निर्बल होती है। ऐसी अवस्था में यदि कोई

---

* ....दशैतानि कुलानि वर्जयेत्;
क्षय्यामव्यामपस्मिवित्रि कुष्ठकुलानि च। (मनुः)

"Avoid marrying, if possible, a woman of an hyserical temperament."

" I pray you avoid marrying a woman with a small waist."

मद्य के लिये देखिए साइंस ऑफ़ लाइफ़, पृष्ठ ५३।

रोग या विष आक्रमण कर जाय, तो उससे बचना उसके लिये असंभव है।

भारत में प्रसव-क्रिया बड़ी अशुद्धता के साथ की जाती है। धात्री अपने मैले हाथों, मैले वस्त्रों तथा मैले उपकरणों का उपयोग करती है। यही नहीं, सूतिका-गृह इतना गरम तथा अशुद्ध वायु-पूर्ण होता है कि उसमें रहने से एक पूर्ण स्वस्थ युवा भी बीमार हो जाय, उस नवजात कलिका का तो कहना ही क्या!

इसके कारण जहाँ माता को संक्रमण एवं प्रसूति-ज्वर होता है, वहाँ शिशु में भी दम घुटना, नाभिनाल का पकना आदि रोग हो जाते हैं। इसके कारण आधे शिशुओं की मृत्यु इसी सूतिकागृह में हो जाती है। उनकी जीवन-लीला यहीं से आरंभ हुई थी, और यहीं समाप्त हो जाती है।

यह करुणाजनक दृश्य विशेष रूप से बंबई तथा कलकत्ते में दर्शनीय एवं करुणाजनक दिखलाई पड़ता है, जहाँ घर गृहस्थी का भी काम देता है, और दूकान का भी, अथवा जहाँ छोटी-सी काल-कोठरी में एक गृहस्थी की सेना रहती है। उस समय यदि कोई नया सिपाही सेना में भरती होने को आ रहा होता है, तो उसके आगमन के लिये किया गया गृह-परिष्कार देखने योग्य होता है। उसी काल-कोठरी में परदा टाँग दिया जाता है, जिससे उसके दो भाग हो जाते हैं। प्रसूता को अंदर रखकर दरवाज़े को परदे द्वारा अथवा वैसे ही बंद कर देते हैं, जिससे कहीं वायु

और सूर्य देवता उसके ऊपर नजर न डाल सकें। कमरे में कोयलों की अँगीठी जला दी जाती है। पुराने कपड़ों का ढेर लगा दिया जाता है। उसमें ६० वर्ष की धात्री, जिसके हाथों में बल नहीं होता, हाथ काँप रहे होते हैं, आँखों से दिखाई नहीं देता, उस नवाभ्यागत सिपाही की अभ्यर्थना के लिये बिठा दी जाती है। वह अपने मलिन उपकरणों का उपयोग करती है, जिससे शत्रु को घर में घुसने का अवसर मिल जाता है। जीवाणुओं (जिनके अशुद्ध वायु, अँधेरा सहायक होते हैं) की शक्ति बढ़ जाती है। वे माता और शिशु पर जोरों के साथ आक्रमण करते हैं। इन आक्रमणों के सहने की शक्ति न माता में होती है, न शिशु में। कारण, दोनों ही निर्बल अवस्था में होते हैं। बस, दोनों ही रुग्ण होकर सदा के लिये पास-पास सो जाते अथवा सदा के लिये रुग्ण, निर्बल हो जाते हैं। इस समय उत्पन्न हुए रोगों की चिकित्सा कठिन हो जाती है। प्रसव-काल में आधी मौतों का प्रायः यही कारण होता है। कोयलों से उत्पन्न कोल-गैस एवं कार्बन-डाइ-आक्साइड-गैस स्वस्थ और युवा व्यक्ति के लिये भी तात्क्षणिक घातक होती हैं। फिर उस अवस्था में माता और शिशु के लिये क्या कहा जाय* !

---

* दुःख है, हम संध्या में प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं कि इस सब संसार को सूर्य-चंद्रमा धारण किए हुए हैं। यह जानते हुए भी सूतिका-घर में सूर्य का प्रकाश और चंद्रमा की शीतल छाया नहीं पहुँचने देते।

इसके अतिरिक्त टैटिनस (धनुष्टंकार) आदि रोगों के जीवाणु भी इस समय आक्रमण करने से नहीं चूकते। मार्ग में चारों ओर से घिरे होने के कारण कहीं भी बचने का रास्ता नहीं मिलता। यदि कुछ शक्ति होती है, तो कुछ समय बाद, अन्यथा शीघ्र ही, उसी समय आत्मसमर्पण करना पड़ता है। इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं।

पोषण की अशुद्धता

भगवान् की दया से यदि शिशु अचानक काल-कोठरी से बच गया, तो पोषण की अशुद्धियों के कारण ही उसकी मृत्यु हो जाती है। ये अशुद्धियाँ प्रायः निम्न-लिखित प्रकार की होती हैं—

(क) रात को माता और शिशु का पास-पास सोना, जिससे सोते-सोते माता की बाँह, टाँग अथवा अन्य भाग शिशु की ग्रीवा पर आकर मृत्यु का कारण बनता है। अतः आवश्यक है कि या तो पृथक् ही शय्या बनाई जाय, अथवा दोनों के बीच में एक तकिया रख लेना चाहिए।

(ख) अशुद्ध वायु या बंद कमरे में सोना।

(ग) उचित भोजन का, उचित मात्रा में, उचित समय पर न मिलना।

(घ) माता का बाहर पुतलीघरों में या अन्यत्र काम पर जाना, जिससे समय पर उचित सहायता शिशु को न मिल सके।

(ङ) शिशु के वस्त्र आदि की त्रुटियाँ, जिससे सर्दी खाकर निमोनिया हो जाता है।

जिस प्रकार युवा व्यक्ति के लिये उत्तम, उचित, परिमित एवं नियमित भोजन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार तत्काल उत्पन्न हुए बच्चे के लिये भी है*—

(क) उत्तम भोजन—विकृत, दोष-पूर्ण दूध शिशु के रोग उत्पन्न करता है। यदि दूध में वसा की मात्रा अधिक है, तो उसके कारण उसे अतिसार होना संभव है। यदि वसा कम है, तो मलबंध हो जायगा। यदि माता का अथवा अन्य प्रकार का दूध, यक्ष्मा के कीटाणु से संक्रांत है, तो शिशु में यक्ष्मा उत्पन्न करने में समर्थ है†। दूध से टायफ़ायड बहुत अधिक फैलता है।

(ख) उचित भोजन—जमा हुआ दूध और वह दूध, जिसमें स्टार्च (निशास्ता) का भाग है, शिशु के लिये हानि-कारक है। दूध यथासंभव स्तन का ही दिया जाना चाहिए। यदि कृत्रिम दूध देना आवश्यक हो, तो निश्चित अनुपात में उसे हलका करके एवं सब कृमियों से बचाते हुए देना चाहिए।

---

* अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठम्। त्रया विष्ठम्भः—आहार स्वप्नो ब्रह्मचर्य्यमिति। (आत्रेय)

† कुकूणकः क्षीरदोषः शिशूनामक्षिवर्त्मनी। (सुश्रुत)

(ग) परिमित भोजन—अधिक या न्यून मात्रा में दिया गया भोजन हानिकारक है। अधिक भोजन के कारण जहाँ वमन, शूल (उदर), अजीर्ण, दूध का फेकना आदि उपद्रव होते हैं, वहाँ हीन मात्रा में देने से शिशु का भार नहीं बढ़ता। वह पतला, निर्बल, सूखा रहता है।

(घ) नियमित भोजन—शिशु के भोजन का समय निश्चित रखना अत्यंत आवश्यक है। जिस प्रकार अनियमित समय पर भोजन करने से युवा व्यक्ति की पाचन-क्रिया विकृत हो जाती है, उसी प्रकार शिशु को भी वमन, अतिसार, शूल आदि रोग होने लगते हैं। शिशु इन रोगों के कष्ट के कारण चिल्लाता है। माता उसे चुप करने के लिये स्तन पिला देती है। शिशु कुछ क्षणों के लिये चुप हो जाता है, परंतु फिर चिल्लाना आरंभ करता है। फिर स्तन दिया जाता है। इस प्रकार चक्कर बन जाता है, जिससे अजीर्ण, शूल बढ़ता जाता है। कारण न जानकर चिकित्सा करना निष्फल है। धीरे-धीरे यह रोग स्थायी हो जाता है। इसका उत्तम उदाहरण यौवनावस्था में मलबंध है, जो सब रोगों की भूमि है। अतः आवश्यक है कि भोजन इन सब त्रुटियों से बचाकर दिया जाय।

अस्वच्छता

तंग, बुरे एवं धूम तथा धूल से भर-पूर वायुमंडल-वाले घरों में जीवन व्यतीत करना माता और शिशु, दोनों के लिये हानिकारक है। धूल में खेलते या रहते अनेक

रोगों के कीटाणु कोमल, निर्मल शरीर पर अपना अधिकार कर लेते हैं। यक्ष्मा, इन्फ्ल्युएंज़ा, निमोनिया रोग शीघ्र ही आ घेरते हैं। प्रत्येक रोग घातक प्रभाव रखता है। यदि इसके बीच में प्रकृति बाधक न बने, तो इनमें से कोई भी रोग शिशु के प्राण ले लेता है।

ये रोग प्रायः श्वास-प्रणाली के रोग होते हैं। यथा निमोनिया, ब्रांको निमोनिया, कास, कुक्कर-कास आदि। यक्ष्मा प्रायः इसी अस्वच्छता के कारण फैलता है। शिशु कृश होता हुआ अंत में सदा के लिये आँखें मूँद लेता है।

दरिद्रता

दरिद्रता—सब रोगों की जननी, सब कष्टों की अधिष्ठात्री यदि कोई है, तो वह दरिद्रता ही है*। पास साधन न हो, तो ज्ञानवान् व्यक्ति भी कुछ नहीं कर सकता। जिनके पास रहने को घर नहीं, खाने को अन्न नहीं, पहनने को कपड़े नहीं, बिछाने को बिस्तर नहीं, लेटने को पर्याप्त भूमि नहीं, वे बच्चे का पोषण किस प्रकार करें? जिन्हें पेट-पालन के लिये पुतली-

---

* प्राणेभ्यो ह्यनंतरं धनमेव पर्येष्टव्यं भवति। न ह्यतः पापात्पापी योऽस्ति यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः। तस्मादुपकरणानि पर्येष्टुं यतेत। तत्रोपकरणोपाया ननु व्याख्यास्यामः। तद्यथा—कृषिपशुपाल्यवाणिज्यं चोपसेवादीनि, यानि चान्यपि सतामविहितानिव वर्याणि वृत्तिपुष्टि-करानि विद्यात् तान्यारभेत कर्त्तुम्। (आत्रेय)

अपुत्रस्य गृहं शून्यं सर्वशून्यं दरिद्रता।

घरों में या सड़कों पर जाकर मजदूरी करनी पड़े, वे बच्चों का क्या पोषण करेंगे ? वह दूसरे को क्या खाने-पहनने को देगा, जिसके पास खुद खाने-पहनने को नहीं ?

जिन माताओं को पेट-भर खाने को नहीं मिलता, जिनको सूखी बाजरे या ज्वार की रोटी चलते-चलते खानी पड़ती हैं, वे बच्चों को दूध क्या पिलाएँगी ? जिनके पास अपना दूध नहीं, पास में सर्वसिद्धि दायिनी लक्ष्मी नहीं, वे कहाँ से दूध लेकर पिलाएँगी ? निदान, वही बाजरे के टिकड़ शिशु को भी चबाने पड़ेंगे, जिससे जब बीमार होगा, तो बिना चिकित्सा के शीघ्र ही इस पृथ्वी के दुःख से मुक्त होकर परमपिता की गोद में जा विराजेगा । जब पैसे ही नहीं, तो चिकित्सा कहाँ ?

परंतु भगवान् की अपार दया है कि ग़रीबों के पास रोग कम आते हैं । अमीरों को जितनी बीमारियाँ होती हैं, उतनी ग़रीबों को नहीं । भगवान् ने कुछ रोग अमीरों के लिये रिज़र्व कर रक्खे हैं । जहाँ-जहाँ नवीन सभ्यता का सूर्य जाता है, वहाँ-वहाँ भगवान् भी अपने राहु-केतु को भेजते जाते हैं । अमीरों के पास रुपया भरा है, लक्ष्मी ने उनके ऊपर कृपा की है, अतः भगवान् भी किसी के घर यक्ष्मा, किसी के घर हैज़ा, किसी के घर चेचक और किसी-किसी के घर प्लेग भेज-कर लोगों की लक्ष्मी को चलायमान कर देते हैं । इन्हीं के सहारे चिकित्सकों की जीविका भी आराम से चलती है !

ग़रीबों को यों ही खाने-पहनने के लिये रुपया नहीं मिलता, भला चिकित्सा के लिये कहाँ से आवे ? अतः भगवान् ने उन्हें प्रायः रोगों से सुरक्षित रक्खा है* ।

दरिद्रता के कारण मनोरथ, इच्छाएँ और ज्ञान सब धरा रह जाता है। अतः आवश्यक है कि यथासंभव उपायों से लक्ष्मी-देवी को नमस्कार करके प्रसन्न किया जाय।

जंगली पशुओं के पास भी पैसा नहीं, परंतु फिर भी वे अपने बच्चों की रक्षा करते हैं। उसी प्रकार मनुष्य को भी चाहिए कि सादा जीवन व्यतीत करते हुए प्रकृति के बताए हुए मार्ग की ओर चले।

माता की अनभिज्ञता—यदि माता शिक्षिता एवं अभिज्ञ है, तो वह दरिद्रता के समुद्र को अपनी शिक्षा-नौका द्वारा सुगमता से पार करती चली जाती है। माता के उत्तम नाविक होने से शिशु भी पार हो जाता है। परंतु यदि माता फूहड़, अशिक्षित है, तो वह लक्ष्मी के समुद्र में भी शिशु को डुबो देती है। वह उसे भड़कीले, तंग वस्त्र पहनाती है। उसका पालन नौकरों पर छोड़ दिया जाता है। दूध भी धात्री का या कृत्रिम दिया जाता है। पूरी देख-रेख नहीं रहती।

प्रायः मृत्यु, या रोग इसी अज्ञानता के कारण होते हैं।

---

* बड़े-बड़े रोग अमीरों को ही होते हैं, निर्धनों को नहीं। (जैसे यक्ष्मा, कुष्ठ आदि। देखिए आत्रेय)

अतः प्राचीन एवं अर्वाचीन जनन-शास्त्र के पंडितों का विचार है कि माता अवश्य शिक्षिता होनी चाहिए * ।

शिक्षित माता ही बालक का पालन-पोषण भले प्रकार कर सकती है। वही सच्ची माता हो सकती है। जहाँ वह बालक के शरीर का ध्यान रख सकती है, वहाँ उसकी मानसिक शक्तियों को भी उन्नत कर सकती है। ऐसी माता की शिक्षा में पले हुए बालक जहाँ अपने घर के लिये उपयोगी हैं, वहाँ अपनी जाति और देश के भी अच्छे स्तंभ बन सकते हैं।

उपर्युक्त कारणों से भारत में बच्चों की मृत्यु एक बड़ी संख्या में होती है। इसके साथ यह नियम भी है कि जहाँ जन-संख्या अधिक होगी, वहाँ मृत्यु भी अधिक होगी, और जहाँ उत्पत्ति कम होगी, वहाँ मृत्यु भी कम, जैसे मद्रास में। परंतु इन मृत्युओं का कारण उपर्युक्त कारणों में से ही होता है। यदि इन कारणों को हटा दिया जाय, तो मृत्यु-संख्या का घटना अवश्यंभावी है।

यदि प्रकृति की इच्छा के विरुद्ध अनुचित परिस्थितियों में जन-संख्या बढ़ा दी जाय, तो प्रकृति उसे घटाने के लिये अपने शस्त्रों का प्रयोग करती है—यथा युद्ध, महामारी, प्लेग आदि। परंतु

---

* सुरूपा यौवनास्था या लक्षणैर्या विभूषिता ;
या वश्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमा मता। (आत्रेय)

"In your search for the attainable avoid the ignorant and wrongly educated."

(Cown. M. D.)

यदि उचित और उत्तम अवस्थाओं में जन-संख्या बढ़े, तो प्रकृति देश को उन्नत, समृद्ध बना देती है—जिस प्रकार मुट्ठी में उतनी ही वस्तु सुरक्षित रक्खी जा सकती है, जितनी उसमें सुगमता से आ जाय ; अधिक वस्तु स्वयं बाहर निकल जायगी।

मृत्यु-संख्या के प्रतिरोधक उपाय

१. ग्रामों और शहरों में माताओं तथा शिशुओं के स्वास्थ्य के लिये प्रबंध करना।

२. प्रसव या सूतिका-गृह बनाना, जहाँ बिना किसी फ़ीस के प्रसव कराया जाय।

३. प्रत्येक मुहल्ले में शिक्षित धात्रियाँ रखनी चाहिए, जो समय-समय पर मुफ़्त शिक्षा दें, एवं घरों का निरीक्षण करती रहें। ग़रीबों को वस्त्र, भोजन, दूध, सब मुफ़्त दिया जा सके।

४. भारतीय दाइयों को शिक्षित किया जाना चाहिए। संक्रमण का विषय भले प्रकार समझा देना चाहिए।

५. इँगलैंड की भाँति भारत में भी प्रमाण-पत्र-प्राप्त धात्रियों को ही प्रसव-कार्य करने देना चाहिए।

६. प्रत्येक ज़िले में रजिस्टर्ड धात्रियाँ रखनी चाहिए।

७. कन्या-पाठशाला में भी शिशु-पालन की शिक्षा दी जानी चाहिए।

८. गोशालाएँ खोलनी चाहिए, जहाँ उत्तम दूध सस्ते दामों में मिल सके।

९. सब जमे हुए (कंडेंस्ट) दूध की परीक्षा करनी आवश्यक है।

१०. गर्भवती स्त्री को प्रसव के एक मास पूर्व और दो मास पश्चात् तक कोई परिश्रम नहीं करना चाहिए।

११. भोजन और दूध का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

१२. स्थान-स्थान पर शिशु-प्रदर्शनियाँ होनी चाहिए।

१३. स्वास्थ्य एवं शिशु-पालन के विषय में समय-समय पर पर्चे छपाकर मुफ्त बाँट देने चाहिए।

१४. चिकित्सकों या निरीक्षकों के पास मोटे कार्डबोर्ड पर छपी आवश्यक सूचनाएँ होनी चाहिए।

१५. शिशुओं के लिये पृथक् राजकीय औषधालय होने चाहिए, जहाँ निरीक्षकगण शिशुओं को भिजवा दिया करें। उनकी चिकित्सा का संपूर्ण प्रबंध राष्ट्र को अपने ऊपर लेना चाहिए।

माता का शिशु पर प्रभाव

शिशु माता-पिता के अंश से उत्पन्न प्राणी है। माता के गर्भाशय में ६ मास तक माता के रक्त द्वारा उसका पोषण होता है। यह रक्त संपूर्ण अवयवों में सिर से पैर तक चक्कर काटता और फिर शिशु में आकर दूसरे सिरे से लौट जाता है। माता के विचार, उसकी आकृति, रंग, विकार, सब इसमें घुले होते हैं। ये ही विचार आदि घूमते-घूमते रक्त द्वारा शिशु में भी पहुँचते हैं, अतः उस पर इनका प्रभाव होना अनिवार्य है।

प्रसव के पश्चात् शिशु का मुख्य भोजन एक साल तक दूध रहता है। यह दूध मासिक आर्तव के सिवा और कुछ नहीं। मासिक आर्तव गर्भ-धारण से बंद होकर गर्भाशय में गर्भ का पोषण करता और पीछे उत्पन्न होने पर स्तनों में आकर दूध बन जाता है। स्तन-ग्रंथियाँ रक्त से दूध बना लेती हैं*।

जिस प्रकार इष्ट वस्तु के देखने, सुनने अथवा स्पर्श करने से कामेच्छा जाग्रत् हो जाती है, उसी प्रकार पुत्र के चुंबन, स्पर्श और दर्शन से स्तनों से दूध झरने लग जाता है†। इस दूध के कारण शिशु का पोषण होता है। रक्त से बने होने के कारण दूध में भी माता के विचार घुले होते हैं, जिनको शिशु दूध पीकर ग्रहण करता है।

इसके अतिरिक्त शिशु का उठना-बैठना, सोना-जागना, सब माता के साथ ही होता है। अतः माता की प्रत्येक छोटी-छोटी क्रिया का प्रभाव शिशु के निर्मल, शुद्ध चित्त पर पड़ता रहता है। इस समय शिशु का मस्तिष्क, हृदय बिलकुल स्वच्छ, निर्मल, शुद्ध, पारदर्शक होता है। उस पर इस समय जैसा भी चिह्न बनता है, वह स्थायी होता है। इस निशान को संपूर्ण वैज्ञानिक भी मिलकर मिटा नहीं सकते।

---

* रसादेव स्त्रियः स्तन्यं रजः संज्ञा प्रवर्त्तते ।...... (विश्वमित्र)

† देखिए सुश्रुत में विसर्प-रोग में दूध के झरने का कारण।

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि तज्जीव शरदः शतम् । (चरक)

शिशु में उत्तम संस्कार का प्रादुर्भाव हो, इसके लिये माता का शिक्षिता होना आवश्यक एवं अनिवार्य है। विना इसके शिशु उत्तम बन सकेगा, इसमें संदेह है। अतः माता को चाहिए कि अपने उत्तरदायित्व को समझकर शिशु-पालन-संबंधी शिक्षा प्राप्त करे।

दूसरा प्रकरण

शिशु की परिचर्या

धात्री या माता के लिये यह आवश्यक है कि शिशु की प्राथमिक परिचर्या को भले प्रकार जाने, अन्यथा इस समय की अज्ञानता शिशु की मृत्यु का कारण बन सकती है।

सद्यःजात शिशु ऐसे स्थान से आ रहा होता है, जहाँ बाह्य वायुमंडल की वायु और भगवान् सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँच सकता, अतः आवश्यक है कि कुछ समय तक उसे प्रकाश और वायु से बचाया जाय, जिससे सहसा वायु-परिवर्तन के विकार उस पर आक्रमण न कर सकें।

इसके लिये उसे गरम फ़लालेन में लपेटकर ऐसे स्थान पर लिटाना चाहिए, जहाँ वायु का झोंका न आ सके। परंतु इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि घर की वायु स्वच्छ रहे।

परीक्षा—इसके पश्चात् उसके जीवित होने की परीक्षा करनी आवश्यक है। परंतु कई बार यह उत्पत्ति के समय ही कर ली जाती है। यह परीक्षा हृदय या नाभि-नाल में स्थित धमनी के स्पंदन से हो सकती है। शिशु का रोदन भी उत्तम चिह्न है।

यह स्वाभाविक एवं प्राकृतिक होने के कारण आवश्यक है। इसका न होना शिशु की अस्वस्थता का संदेह करा देता है। कारण, गूँगे बच्चे प्रायः रुदन नहीं करते। इस रोने से वह वायु ग्रहण करता है, जिससे फेफड़े फैलकर श्वास-क्रिया आरंभ कर देते हैं। यदि ऐसा न हो, तो उसे रुदन करने के लिये बाधित करना चाहिए।

नाभि-छेदन

तदनंतर नाभि-छेदन की समस्या आती है। नाभिनाल काटी जाय, इससे पूर्व उसमें स्पंदन बंद हो जाना आवश्यक है। जब तक नाल में स्पंदन प्रतीत हो, उसका छेदन नहीं करना चाहिए। अन्यथा रक्तस्राव के कारण शिशु की मृत्यु का भय है। नाल-छेदन के समय के उपकरण एवं हाथ, ड्रेसिंग आदि सबको स्वच्छ (स्टेरेलाइज्ड एवं ऐंटीसेप्टिक) कर लेना आवश्यक है, अन्यथा शरीर में विष व्याप्त हो जाता है*।

जब स्पंदन बंद हो जाय (उत्पत्ति के बाद कुछ मिनटों में ही हो जाती है), तो नाभि से दो इंच की दूरी पर एक गाँठ†

* इसके लिये क़ैंची आदि वस्तुओं को गरम पानी में उबालना चाहिए, और हाथों को गरम पानी में साबुन से धोकर किसी जंतु-नाशक द्रव में पाँच मिनट डुबो लेना चाहिए।

† यह १½ गाँठ कही जाती है। नाल को सुई द्वारा छेदन करके गाँठ बाँधनी चाहिए। यदि यह संभव न हो, तो ऊपर से बाँध सकते हैं।

बाँध देनी चाहिए, और दूसरा बंधन इससे तीन इंच की दूरी पर बाँध देना चाहिए, जिससे यदि कहीं रक्तस्राव हो रहा हो, तो रुक जाय। इसके पश्चात् नाल को नाभि के बंधन से ½ इंच की उँचाई पर तेज़, स्वच्छ चाक़ू या क़ैंची से काटकर उस पर डस्टिंग पाउडर छिड़क देना चाहिए। काटते समय नाल को उँगली पर उठा लेना चाहिए। यदि रक्तस्राव होता प्रतीत हो, तो दूसरा बंधन बाँध देना चाहिए।

श्वास

चूँकि नाभि-नाल काटने से शिशु का जीवन माता से सर्वथा पृथक् हो जाता है, अतः नाभि-नाल के काटने से पूर्व श्वास-प्रश्वास-क्रिया को सुचारु रूप से जाग्रत् कर देना आवश्यक है। इसके लिये श्वास-मार्ग को पूर्ण स्वच्छ करना चाहिए। मुख एवं प्रणालियाँ श्लेष्मा से आवृत होती हैं, ये गर्भावस्था में होनी ही चाहिए, अन्यथा शिशु अन्य अनावश्यक पदार्थों का पान कर सकता है।

उँगली पर रुई लपेटकर श्लेष्मा को मुख तथा गले से निकाल अथवा नाड़ी-यंत्र के द्वारा चूस लेना चाहिए। यदि इससे भी श्वास-क्रिया आरंभ न हो, तो अन्य उपायों का अवलंबन करना अथवा शिशु के ऊपर ठंडा पानी डालना चाहिए, एवं नितंब तथा पीठ पर हल्के-हल्के थप्पड़ लगाने चाहिए, जिससे

शिशु में रुदन आरंभ हो जायगा, और श्वास-प्रश्वास होने लगेगा* ।

स्वच्छता

शिशु की उत्पत्ति के समय उसके संपूर्ण शरीर पर एक चिकना पदार्थ लगा रहता है, जिसे 'वर्नीक्स के जी ओफा' कहते हैं। यह शरीर की अंतिम मासों में गर्भाशय-जल में पड़े मल-मूत्रादि से रक्षा करता है। यह पदार्थ किसी में अधिक मात्रा में होता है, और किसी में कम। इसे दूर कर देना आवश्यक है।

शिशु के शरीर पर जैतून का तेल, वैसलीन या स्नानरज चूर्ण मलकर उसे धात्री इस प्रकार उठाए, जिसमें बायाँ हाथ सिर और पीठ पर रहे, एवं दाहना घुटनों के नीचे। स्नान के लिये टब में बिठाने से पूर्व सिर, माथा और चेहरा पानी से (कवोष्ण, जिसका ताप-परिमाण ६६ हो। यह तापोष्णिमा अभ्यास के द्वारा भी जानी जा सकती है) धो देना चाहिए। टब में पानी कम रखना

---

* खल्वेमानि कर्माणि क्रियमाणे जातमात्रस्यैव कुमारस्य कार्याण्येतानि कर्माणि भवन्ति । तद्यथा—अश्मनोः संघट्टनं, कर्णयोर्मूले शीतोदकेनोष्णोदकेन वा सुखपरिषेकः। तथा संक्लेशविहितान् प्राणान् पुनर्लभेत ।

ततः प्रत्यागतप्राणं प्रकृतिभूतमभिसमीक्ष्य, स्नानोदकगुरुणाभ्यामुपपादयेत् । अथास्य ताल्वोष्ठजिह्वाकंठप्रमार्जनमारभेत । अंगुल्या सुपरिलिखितनखया ।

चाहिए, जिससे नाल भीगे नहीं। टब में पीठ और सिर बाएँ हाथ पर रखना चाहिए, अथवा टब के सहारे बैठा देना चाहिए। फिर दाहना हाथ निकालकर कोमल मलमल के साथ (जिसमें साबुन लगा हो) इस प्रकार मालिश करे, जिससे त्वचा को हानि न पहुँचने पावे। शिशु को पानी में ग़ोता नहीं देना चाहिए। उत्तम हो कि दो पानी से स्नान कराया जाय। कारण, प्रथम पानी चिकनाई के कारण ख़राब हो जाता है, अतः दूसरे पानी

चित्र नं० २
शिशु के स्नान की तैयारी

से स्नान कराना चाहिए। स्नान के पश्चात् शिशु की त्वचा का ध्यान रखकर उसे तौलिए के द्वारा पूर्ण ख़ुश्क कर देना चाहिए। विशेषतः जाँघ, घुटने, बग़ल और गर्दन के नीचे।

स्नान के पीछे आँखों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। इस समय की त्रुटि के कारण बहुत-से अक्षि-रोग शिशु में हो

चित्र नं० ३
शिशु को स्नान कराना

जाते हैं। इस समय की स्वच्छता आँखों को कई भावी रोगों से बचा देती है, विशेषतः औपसर्गिक जन्य संक्रमणों (Gono-infection) से।

आँख की स्वच्छता के लिये विलायती रुई को टंकणघोल (१ औंस में १० ग्रेन बोरिक-एसिड) में भिगोकर आँख को साफ़ करना चाहिए। एक पिचु को एक बार ही प्रयोग करना चाहिए। दूसरी बार के लिये दूसरा पिचु व्यवहार करे। फिर कास्टिक लोशन से आँख में एक-एक बूँद डालना चाहिए। इस

विधि (Cread's method) से आँख कुछ दिनों को लाल तो अवश्य हो जायगी, परंतु शिशु बहुत-से अक्षि-रोगों से बच जायगा। यह लालिमा कुछ समय के बाद स्वयं चली जायगी।

चित्र नं० ४

शिशु की आँखों को साफ़ करना

शिशु की आँख पर घी या मक्खन नहीं लगाना चाहिए। इससे मक्खियाँ बैठकर अंडे दे देती हैं, जिससे अक्षि-शोथ हो जाता है।

निरीक्षण

आवश्यक कर्मों को समाप्त करके शिशु का निरीक्षण

आवश्यक है। कारण, यदि इस समय कोई उत्पत्ति-कालीन विकार हो, तो वह सुगमता से (चिकित्सक की सहायता से) हटाया जा सकता है। यथा अपूर्ण गुदा का होना। अथवा कठिन प्रसव में कहीं अस्थि-भंग आदि हो गया है, तो वह भी ठीक किया जा सकता है*।

विश्राम

इन सब कार्यों से जहाँ धात्री को आराम की आवश्यकता प्रतीत होगी, वहाँ शिशु भी इस परिश्रम से थक जायगा। अतः उसे नींद आना स्वाभाविक है। इसलिये उसे

---

* सुपरिक्षालितोपधानकार्पासपिचुमत्या प्रथमं प्रमार्जितस्यास्य च शिरस्तालुकार्पासपिचुना, स्नेहगर्भेन प्रतिच्छादयेत। ततो ह्यस्या अनन्तरं कार्यं सैन्धवोपहितेन सर्पिषा प्रच्छर्दनम्। (चरक)

नाड्यास्तस्याः कल्पनविधिमुपदेश्यामः—नाभिबन्धात् प्रभृति ह्यत्वाष्टाङ्गुलमभिज्ञानं कृत्वा, छेदनावकाशस्य, द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन रौक्मराजतायसानां छेदनानामन्यतमेनार्द्धधारेन (कुशपत्रेण वा लेखकः) छिंद्येत्। तामग्रे सूत्रेणोपबध्य कंठे चास्य शिथिलमवसृजेत्।

असम्यक् कल्पने हि नाड्या आयामव्यायामोत्तुण्डिका, पिण्डलिका, विनामिका, वितम्भिका, व्याधिभ्यो भयम्। सर्वगन्धेन स्नानं दद्यात्। (आत्रेय)

(देखिए सुश्रुत, १० म० शा०)

आराम देने के लिये एक साधारण बिस्तर पर (जो न तो बहुत गर्म हो, और न बहुत ठंडा, फ़लालैन उत्तम है) लिटा देना चाहिए। नींद सम्यक् प्रकार आवे, इसके लिये शिशु को लपेटकर (उत्तम हो कि उसे इस प्रकार लपेटें कि टाँगें संकुचित रहें, परंतु जंघाएँ कांष्ठ पर न आवें, इसके लिये हल्का बंध दे सकते हैं। अथवा एक वस्त्र में, जो दो थंभों में झूल रहा हो, लिटा दें। भार के द्वारा वस्त्र नीचे झुका रहेगा। यह प्रथा गुजरात-प्रांत में विशेष रूप से है।) सुला देना चाहिए। जिस

चित्र नं० ५

बच्चे को उठाना

फ़लालैन में लपेटना हो, उसे शीतदेश या शीतऋतु में थोड़ा-सा गरम कर लेना चाहिए। विश्राम देने के लिये धात्री शिशु को अपने हाथों पर भी आराम से रख सकती है। इसमें धात्री का बायाँ हाथ सिर के नीचे, घुटने पीठ और टाँगों को सहारा देते रहेंगे। घुटनों के अभाव में वाम हाथ पर सिर, उँगलियों पर पीठ एवं दक्षिण हाथ घुटनों के नीचे रहना चाहिए। वाम हाथ दक्षिण हाथ से ऊँचा रखने से शिशु का सिर थोड़ा उठा रह सकता है।

भोजन

प्रथम तीन दिन माता के स्तनों में शुद्ध दूध नहीं होता। यह जो दूध के स्थान पर पदार्थ होता है, वह खीस या कौलस्ट्रीयम होता है। इसका गुण मृदु विरेचक है। प्रथम दिन से ही इसे देने में कई मतभेद हैं—

पहले—कुछ चिकित्सक इस कौलस्ट्रीयम का देना आवश्यक बताते हैं। कारण, प्रकृति ने इसे नवजात शिशु के लिये ही उत्पन्न किया है। अन्यथा इसके उत्पन्न करने से कोई लाभ न था। इसके अतिरिक्त यह मृदु विरेचक गुण रखता है, जिससे आँतों में स्थित मल (म्युकोनियम) बाहर हो जाता है।

दूसरे—इस मृदु विरेचक गुण को एरंड-तैल के द्वारा सिद्ध करना चाहिए। ऐसी अवस्था में तैल शुद्ध (Morton's का) होना चाहिए। इसकी एक ड्राम की मात्रा नवजात शिशु के

लिये अधिक नहीं है। इनकी दृष्टि में कौलस्ट्रोयम गुरु होने से पाचन में कठिन है।

तीसरे (सुश्रुत की दृष्टि से)—इन दोनों के स्थान पर अनंता आदि ओषधियों से सिद्ध दूध तीन दिन तक (जब तक स्तनों में शुद्ध दूध नहीं आता) देना चाहते हैं *।

चौथे—पानी में (गरम पानी उत्तम है) शहद मिलाकर अथवा दुग्ध-शर्करा (Milk sugar) देना उत्तम समझते हैं। इससे श्लेष्मा का नाश होता है। आँतों की श्लेष्मा मल के द्वारा बाहर हो जाती है। कारण, मधु में श्लेष्मा को लेखन करने का गुण है।

पाँचवें—मधु और घी (असमान मात्रा में) मिलाकर चटाना आवश्यक समझते हैं। इसमें बुद्धि-वर्द्धक ओषधियाँ यथा ब्राह्मी, शंखपुष्पी, बच तथा विषहर यथा स्वर्ण-भस्म आदि भी मिलाकर देना प्रशस्त मानते हैं †। इससे भी श्लेष्मा का क्षय होता है।

साधारणतः यदि देखा जाय, तो उत्पत्ति के प्रथम २४ घंटों

---

* देखिए सुश्रुत, शरीर-अध्याय १०

† संस्कार-विधि में जातकर्म-संस्कार देखिए—

प्रागतो जातकर्मकार्यम्। ततो मधुसर्पिषा मंत्रोपमंत्रिते यथान्यायं प्राशितुमस्मै दद्यात्। स्तनमतऊर्ध्वमनेनैव विधिना दक्षिणं पातु पुरस्तात् प्रयच्छेत्।

में शिशु को भोजन की कोई आवश्यकता नहीं होती। अतः उसे चतुर्थ विधि से ही भोजन दिया जाना उत्तम है। यदि इससे विरेचन भले प्रकार न हो, तो दूसरे चिकित्सकों का प्रयोग कार्य में परिणत करना चाहिए (एरंड-तैल देना चाहिए)। इसके द्वारा मल भी बाहर हो जायगा।

जन्म के पीछे बालक में होनेवाले परिवर्तन

नाल—नाल के काटने पर प्रथम २४ घंटा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। इसके पीछे नाल की जड़ में एक रेखा दिखाई देती है। इस रेखा (चक्कर) के पास से ही नाल पृथक् हो जाती है। नाल धीरे-धीरे बहुत सूखती चली जाती है। इसके पीछे नाभि की नसें संकुचित होने लगती हैं। तीन से छ दिन में नाल गिर पड़ती है। नाल का शेष भाग नाभि में धँस जाता है। यह एक डाट की भाँति हो जाता है। नाल को पानी से भीगने न देना चाहिए, और न उसमें जंतु उत्पन्न होने देने चाहिए।

नाल को पानी से बचाने के लिये बोरिक प्रलेप लगाकर, ढाँपकर, उसके ऊपर पाँच इंच चौरस लिंट का टुकड़ा लगाकर उसके मध्य में छेद बना देना चाहिए। उस छेद से नाल निकालकर लिंट को पीछे कमर पर बाँध देना चाहिए। प्रलेप के स्थान पर स्टार्च और जिंक ऑक्साइड का चूर्ण उत्तम है। इससे जहाँ पानी शीघ्र चूसा जायगा, वहाँ नाल की आर्द्रता

भी विलीन होगी, जिससे नाल शीघ्र सूख जायगी। यह ड्रेसिंग प्रतिदिन स्नान के बाद बदल देनी चाहिए।

शरीर की गर्मी—साधारणतः प्रजात शिशु का ताप ९९.८° फ़ैरनाहिट होता है। फिर शीघ्र ही घटकर स्वस्थ मनुष्य के ताप के लगभग (९८.८° फ़०) हो जाता है। भोजन के विकारों के कारण ताप पहले कुछ दिनों तक बढ़ा होता है। परंतु यदि चौथे दिन के पश्चात् १०० से अधिक हो, तो शिशु के रुग्ण होने का चिह्न है।

श्वासोच्छ्वास—जिस समय शिशु जागता है, उस समय प्रायः श्वास की गति अनियमित होती है। एक मिनट में ३० से ६० हो जाती है। स्वप्नावस्था में श्वास की गति नियमित रहती और अधिक होती है।

नाड़ी—बालक की नाड़ी प्रायः अनियमित रहती है। कारण, रोने, दौड़ने अथवा अन्य उत्तेजना के कारण नाड़ी नियमित नहीं रहती। जब बालक सोता हो, उस समय नाड़ी की परीक्षा करनी चाहिए। प्रथम दो मास में नाड़ी की गति १३७ तक (एक मिनट में) रहती है। दो से छ मास तक १२८ और छ से बारह मास तक १२० होती है।

विष्ठा—प्रथम दो-चार दिन तक शिशु को म्युकोनियम आता है, जो अफ़ीम के रस की भाँति दिखाई देता है। यह आँतों (सूक्ष्मांत्र) के चिकने पदार्थ तथा पित्त से बनता है। प्रथम २४ घंटों में दो-चार बार आता है। इसमें बहुत बू रहती है।

मूत्र—प्रजात शिशु के मूत्र में खट्टी बास आती है। रंग फीका-पीला, आपेक्षिक गुरुत्व १००५ से १००७ तक होता है। बालक एक दिन में १५ से २० बार मूत्र त्याग करता है। मूत्र की राशि प्रथम २४ घंटों में दो औंस होती है। दूसरे २४ घंटों में २½ से तीन औंस होती है। तीन से छ दिन में तीन से आठ औंस और फिर धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। पंद्रह-सोलह दिन में पाँच से तेरह औंस हो जाती है। मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होती है।

भार—अबोध, गूँगे बालक के स्वास्थ्य की यदि कोई वस्तु साक्षी

चित्र नं० ६

शिशु को तोलना

है, तो वह भार ही है। इसके द्वारा उसकी स्वस्थता या अस्वस्थता का ज्ञान होता है। उत्पत्ति के समय शिशु का भार सात रत्तल या ३½ सेर होता है। उँचाई १९½ इंच, वक्षःस्थल १३½ इंच और सिर १४ इंच होता है। प्रथम दो-तीन दिन में ¼ सेर भार घट जाता है। सात-आठ दिन में यह फिर बढ़कर जन्म के भार के बराबर हो जाता है। इसके वजन में बढ़ती धीरे-धीरे, नियम-पूर्वक होनी आरंभ होती है। यदि भार में वृद्धि न हो, तो इसका अर्थ यह है कि कोई अस्वाभाविकता या रोग शिशु में है। अर्थात् भोजन, पानी, मल-मूत्र का विकार है। जिन शिशुओं को बोतल का दूध दिया जा रहा है, या अन्य प्रकार से (माता या धात्री के अतिरिक्त) पालन हो रहा है, उन्हें प्रति-सप्ताह तोलना चाहिए।

तोलने का समय निश्चित रखना चाहिए। भोजन से पूर्व सात से आठ बजे या नौ बजे प्रातःकाल का समय उत्तम है। तोलने के समय के वस्त्र निश्चित रखने चाहिए। पाँचवें मास में शिशु का भार जन्म से द्विगुण हो जाता है। भार का नियत अनुपात से बढ़ना उत्तम स्वास्थ्य का उत्तम लक्षण है।

स्वस्थ शिशु प्रथम तीन मासों में प्रतिसप्ताह सात औंस, भार में, बढ़ता है। स्तन के दूध से पाले जानेवाले शिशु कुछ अधिक बढ़ जाते हैं।

फ़्लेसमेन (Fleischmann) की भार-सूचक तालिका—

मास	प्रतिदिन की वृद्धि औंस	ड्राम	मासिक वृद्धि औंस	ड्राम	मास के अंत में भार पौं०	औं०	ड्राम
१	१	३.७	३७	०	६	१४	०
२	१	२	३३	१४	११	१५	१४
३	०	१५.८	२६	१०	१३	१२	८
४	०	१२.४	२३	४	१५	४	१२
५	०	१०.१	१६	१	१६	७	१३
६	०	७.६	१४	१३	१७	६	१०
७	०	६.७	१२	११	१८	३	५
८	०	५.६	१०	६	१८	१३	१४
९	०	५.६	१०	६	१६	८	७
१०	०	५	६	८	२०	१	१५
११	०	४.५	६	७	२०	१०	६
१२	०	३.३	६	५	२१	०	११

रोदन—शिशु विना किसी कारण के प्रायः नहीं रोता। उसका रोना या तो किसी शूल या अजीर्ण के कारण होता है या भोजन की कमी से अथवा भूख के कारण। इसके अतिरिक्त वस्त्रों के भारी होने से, गरमी के कारण, हाथ-पाँव ठंडे होने से शीत के कारण, या वस्त्र या बिछौने के गीले हाने के कारण और प्यास

से तथा मक्खी आदि के काटने पर वह चिल्लाता है। कारण को हटा देने से रोदन भी बंद हो जाता है।

साधारण बातें

वायु-सेवन—शुद्ध वायु में जीवन व्यतीत करवाना शिशु के स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। यदि ऋतु उत्तम हो, किसी प्रकार की उष्णिमा या शीत अधिक न हो, तो सावधानी के साथ शिशु को बाहर घुमाने ले जाने में कोई हानि नहीं। शिशु को दूसरे दिन से ही बाहर ले जाया जा सकता है। वायु के साथ-साथ शिशु को धूप में भी बैठना चाहिए। इससे उसकी त्वचा एवं रक्तवाहिनियों को उत्तेजना मिलती है। सीधी वायु और धूप मुख या शरीर पर पड़ने से बचाना चाहिए। सोते समय भी शिशु के गृह के दरवाज़े और खिड़कियाँ खोल देनी चाहिए। सर्दी से डरकर खिड़कियाँ बंद करने की अपेक्षा उष्ण वस्त्रों का उपयोग उत्तम है। इसके अतिरिक्त संक्रांत वायु-मंडल से (विशेषतः निमोनिया, कुकर-कास की अवस्था में) भी रक्षा करनी चाहिए। मुँह सर्वथा खुला रखना चाहिए। मच्छर से बचने के लिये मसहरी लगानी चाहिए। जहाँ तक हो, शिशु को नाज़ुक न बनाने दे। कारण, बीमारी से जो जितना घबराकर दूर भागते हैं, बीमारी उतना ही उनके समीप आती है।

स्वच्छता—शिशु को प्रतिदिन कोसे पानी से (शीत पानी

उत्तम है) स्नान कराना चाहिए। परंतु जब तक नाल न गिरे, तब तक गोता नहीं देना चाहिए। साबुन इत्यादि कृत्रिम वस्तुओं का उपयोग यथाशक्ति कम करना चाहिए। स्नान के पश्चात् खुश्क करना आवश्यक है। शिशु को धूल में खेलने से बचाना चाहिए। यक्ष्मा-रोग के कीटाणु प्रायः इसी समय बच्चों पर आक्रमण करते हैं। फ़र्श साफ़ होना चाहिए। बालों में तेल (दही या सरसों उत्तम है) लगाना चाहिए, जिससे आपस में उलझ न जायँ एवं जुएँ न हो जायँ। मुख की स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। दूध पिलाने से पूर्व और पश्चात् गीली रुई से मुख साफ़ कर देना चाहिए। संक्रांत, रुग्ण शिशुओं से पृथक् रखना चाहिए।

वस्त्र—शिशुओं के वस्त्रों में ये गुण आवश्यक हैं—

(१) वस्त्र सुकोमल हों, जिससे शरीर पर किसी प्रकार का विक्षोभ न हो सके।

(२) वस्त्र उचित उष्णिमा दें। यदि वस्त्रों से अधिक उष्णिमा होगी, तो शिशु रोता रहेगा। उसे नींद न आवेगी। इसके अतिरिक्त त्वचा लाल हो जायगी। उस पर कोठ निकल आएँगे।

(३) शरीर की पूर्ण रक्षा कर सकें। यह रक्षा आघात और शीत से पूर्ण होनी चाहिए। शीत बच्चों पर शीघ्र प्रभाव करता है। निमोनिया, कास से विशेष रूप से बचाना चाहिए।

(४) वस्त्र भारी न हों। वस्त्र इतने हल्के होने चाहिए, जिससे उसकी गति में बाधा न हो।

(५) वस्त्र ढीले होने चाहिए, जिससे शरीर का प्रत्येक अंग गति कर सके। उनकी वृद्धि पूर्णतः हो। विशेषतः कोष्ठ (पेट),
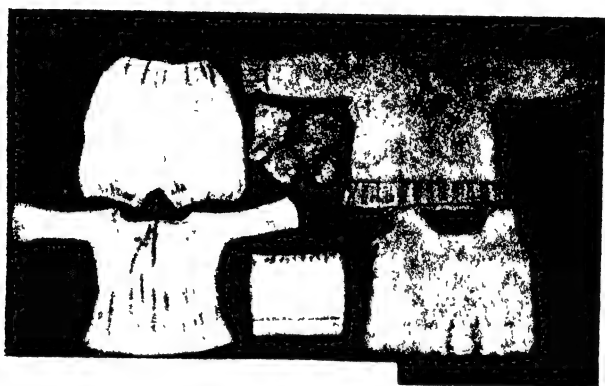
चित्र नं० ७
शिशुओं के वस्त्र

छाती, बग़ल, ग्रीवा पर तंग नहीं होने चाहिए। कोष्ठ पर वस्त्र के तंग होने और आँतों एवं आमाशय पर दबाव पड़ने से अजीर्ण हो जाता है।

(६) वस्त्रों पर अधिक गहरा रंग नहीं होना चाहिए। कारण, गहरा रंग मच्छरों को खींचता है। काला रंग गर्मी को विलीन करता है। मिट्टी आदि से मलिन न हों, इसलिये खाकी या भूरे रंग के वस्त्र उत्तम हैं।

रुई या रेशम के वस्त्र गर्मियों के लिये उत्तम हैं। सर्दी में

ऊन के वस्त्र अच्छे हैं, परंतु त्वचा से सटे हुए न रहने चाहिए। कारण, ऊनी कपड़ा न तो पसीने को शीघ्र चूसता है, और

चित्र नं० ८

शिशुओं के वस्त्र

न शीघ्र शुष्क होता है। उत्तम हो, यदि उसमें रेशम या सूत मिला दें। कारण, ऊन धुलने से सिकुड़ जाता है। वस्त्रों की सच्छिद्रता आवश्यक है। वस्त्रों की सच्छिद्रता देखने के लिये उसे मुख पर रखकर फूँक मारकर देखना चाहिए। साथ ही वस्त्र ऐसे होने चाहिए, जो सुगमता से पहनाए या उतारे जा सकें। वस्त्र को सदा लिटाकर पाँव की ओर से पहनाना चाहिए। इससे बाज़ू उतरने का भय नहीं रहता।

कमज़ोर बच्चों के पेट पर फ़लालैन की पट्टी लपेट देनी

चाहिए। विशेषतः जब हरे-पीले रंग के दस्त आते हों। चार मास के बाद इसका स्थान पेट के लिये पट्टी (Abdominal Band) को दे देना चाहिए।

वस्त्रों को स्वच्छ रखने के लिये प्रतिदिन बदल देना चाहिए। उनको प्रतिदिन धो देना चाहिए। मोजे यदि बरते जायँ, तो तंग नहीं होने चाहिए। बूट भी तंग, पाँव को भींचनेवाला, न हो। उत्तम यही है कि नंगा रहने दिया जाय, जिससे पाँव की वृद्धि हो सके। सर्दी में पाँव तथा कोष्ठ को सर्दी से बचाना चाहिए। वस्त्र गरम हों, परंतु हल्के होने चाहिए। गरमियों में जाली का वस्त्र उत्तम है।

रात्रि में हल्का, ढीला वस्त्र होना चाहिए। उत्तम यही है कि एक चोला-सा बनवा दें, जिसमें बाज़ू भी आराम से गुज़र सकें। परंतु इतना बड़ा न हो, जिसमें बच्चा उलझ सके। शिशु के माथे पर पसीना आना वस्त्रों के गरम होने का साक्षी है *।

---

* वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं दृढमपगतं श्वापदपशुदंष्ट्रिमूषिकपतंगमुसंविभक्तसलिलोदूखलमूत्रवर्च्चस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखं यथर्तु शयनासनास्तरन् सम्पन्नं कुर्यात्। तथा सुविहितरक्षाविधानबलिमंगलहोमप्रायश्चित्तं शुचिवृद्ध वैद्यानुरक्तजनसम्पूर्णमिति कुमारागारविधिः।

शयनास्तरणप्रावरनानि कुमारस्य मृदुलघुशुचिसुगन्धानि स्युः। स्वेदमलजंतुमंतिमूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्युः। असति सम्भवेऽन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपितानि, सुशुष्कशुदनि प्रयोगं गच्छेयुः। धूपनानि पुनर्वाससां शयनास्तरणप्रावरणानाञ्च यवसर्षपातसी हिंगुगुग्गुलु...सर्पनिर्मोकानि घृतसम्प्रयुक्तानि स्युः।

शयनागार—उत्तम यही है कि माता और शिशु के सोने के कमरे पृथक् हों, यदि यह न हो सके, तो शिशु को पृथक् शय्या पर, माता के पास, सुला देना चाहिए। साथ में सोने से जहाँ एक दूसरे की प्रश्वास श्वास के रूप में लेते हैं, वहाँ बाज़ू या किसी अंग के नीचे दबने से शिशु की मृत्यु या अन्य रोग हो जाते हैं। सोने के लिये शय्या लोहे की हो, तो उत्तम है। उसके दोनो ओर गद्दी एवं लोहे का जँगला होना चाहिए। कमरा ऐसा होना चाहिए, जिसमें अनावश्यक वस्तुएँ न हों, एवं सुगमता से धोया जा सके। कमरे में प्रकाश और वायु का अव्याहत प्रवेश होना चाहिए। कमरा सदा ऊपर के खंड में चुनना चाहिए। कमरे का ताप स्थिर रखना चाहिए। ६० से ६५ फ० से अधिक उष्णिमा कभी नहीं होने देनी चाहिए। अधिक उष्णिमा से अतिसार, पसीना, जुकाम, शूल आदि रोग हो जाते हैं। प्रकाश का रहना कोई आवश्यक नहीं। विशेषतः मोमबत्ती या तेल के लैंप तो किसी भी प्रकार से जलते नहीं रहने देने चाहिए। कमरे में पर्याप्त वायु आनी चाहिए। वायु शुद्ध रहे, इसका विशेष ध्यान रखकर मिट्टी का तेल या कोयले नहीं जलाने चाहिए। शिशु को सीधे वायु के झोंके से पृथक् रखना चाहिए।

मल-त्याग—प्रथम २४ घंटों में शिशु को मल-त्याग के लिये दो-तीन बार जाना पड़ता है। कभी-कभी इससे अधिक बार भी। परंतु पीछे से वह एक या दो बार ही जाता है। मल-

का पतला या गाँठ बँधकर आना अथवा मल में फुट्टियों का आना क्रमशः अतिभोजन (अतिसार), न्यून भोजन (मलबंध) एवं वसा-आधिक्य (अपचन) का सूचक है। मल पीला (पित्त के कारण) तथा नरम एक-सा होना चाहिए। मल में रक्त मिला होने से उसका रंग काला हो जाता है। अतः कारण की परीक्षा करनी चाहिए। मल-त्याग की आदत शुरू से ही नियमित समय की डालनी चाहिए। मल उस समय आए या नहीं, माता या धात्री को चाहिए कि नितंब के बल बैठकर, शिशु का मुख अपनी ओर रखकर उसे अपने दोनो पाँव के पंजे पर बैठावे। पंजों को भूमि से उठा रक्खे। अथवा सिर को बाजू का सहारा देकर, टाँगों को हाथ से पकड़कर मल करावे। परंतु प्रथम उपाय स्वाभाविक है। मल-त्याग का समय प्रातः और सायं रखना चाहिए। नीचे मिट्टी का तसला रख देना चाहिए। मल न आवे, तो दक्षिण दिशा से वाम दिशा की ओर पेट मलना चाहिए। यदि इससे लाभ न हो, तो मल-द्वार में साबुन की वर्ति का उपयोग करना चाहिए। इस नियत आदत के कारण माता-पिता कष्ट से बच सकते हैं।

व्यायाम—व्यायाम प्रत्येक प्राणी के लिये आवश्यक है, चाहे वह शिशु हो या युवा, पुरुष हो या स्त्री। बालकों का व्यायाम युवाओं की भाँति नहीं होता। उनका सबसे बड़ा व्यायाम रोना है। रोना और प्राणायाम एक ही क्रिया है। फुफ्फुस के फैलने से श्वास अधिक मात्रा में आती है। फिर

बालक हाथ-पाँव चलाने लगता है। पाँव के बल रेंगना ही उसके लिये पर्याप्त है। ग्रीष्म-ऋतु में बच्चे को कुछ समय के लिये नंगा कर देना चाहिए। शिशु को शीघ्र खड़े होने का अभ्यास नहीं कराना चाहिए। अन्यथा टाँगों के विकृत होने से वह टेढ़ा होकर चलने लगेगा। शिशु को जन्म से ही सीधे बैठने, सीधे चलने और सीधे खड़े रहने की शिक्षा देनी चाहिए।

निद्रा—जिस प्रकार निद्रा युवा पुरुष के लिये आवश्यक है, उसी प्रकार (अपितु उससे भी अधिक) शिशु के लिये भी आवश्यक है। छोटा बच्चा, जिसकी पाचन-शक्ति ठीक है, २१ घंटे और छ मास की अवस्था में १६ घंटे सोता है। यदि इससे अधिक (अर्थात् २१ घंटे) सोवे, तो वह कोई शिरोरोग है, जिसकी चिकित्सा करनी चाहिए। निद्रा लाने के लिये अफ़ीम या अन्य वस्तुएँ देना कभी-कभी प्राण-घातक परिणाम उत्पन्न करने के अतिरिक्त बुरी आदत तथा रोग उत्पन्न कर देता है। प्रायः धात्रियाँ बच्चे को चुप रखने के लिये रात को अफ़ीम खिला देती हैं। निद्रा का ठीक प्रकार से न आना, अजीर्ण या भोजन के दोष से होता है। गले में ग्रंथियाँ (Adenoids) बढ़ जाने से नींद के समय घर्राटे की आवाज़ आने लगती है। टहलाकर सुलाने से आदत बिगड़ जाती है। सोते समय मुँह से कभी श्वास न लेने देना चाहिए। यदि मुँह से श्वास लेने की आदत हो, तो मुख पर पट्टी बाँध देनी चाहिए।

बिस्तर और शय्या—शय्या सबसे उत्तम लोहे की होती है। गरमी में बेत का बना पालना भी काम दे सकता है। बिस्तर

चित्र नं० ९
शिशु को लिटाना

नरम तथा साधारण गरम होना चाहिए। उत्तम यही है कि गद्दे में पुआल, मूँज या नारियल की जटाएँ भर दी जायँ। उसके ऊपर रबड़ की चादर फिर श्वेत चद्दर बिछा देनी चाहिए, तकिए की साधारणतः कोई आवश्यकता नहीं। यदि आवश्यकता हो, तो

नरम, पतला होना चाहिए, जिससे सिर धड़ के बराबर उठा रहे। सिर के अधिक उठने से रक्त-संचार में बाधा पड़कर रोग
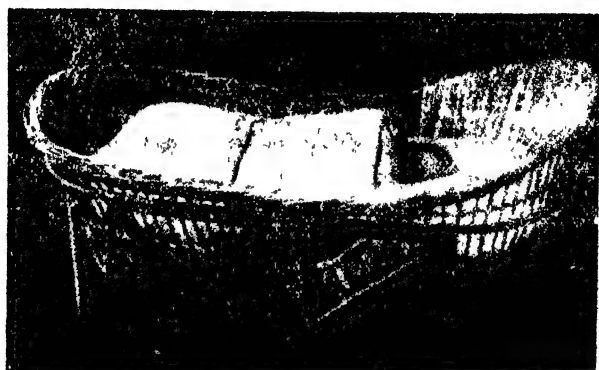
चित्र नं० १०

पालना

हो सकते हैं। शय्या के चारों ओर जँगला हो, तो उत्तम है। इसके द्वारा शिशु गिरने से बचेगा। वायु से बचाने के लिये इस पर वस्त्र भी लगाया जा सकता है। ऊपर के वस्त्र हल्के, परंतु उचित गरमी देनेवाले होने चाहिए।

चूमना—बच्चे को चूमना कई रोगों के फैलने का कारण है। विशेषत: क्षय और डिप्थीरिया में। अतः आवश्यक है कि यथासंभव इस प्रथा से बचा जाय। किसी बाहरी मनुष्य या संबंधी का शिशु के ओंठ चूमना अत्यंत हानिकारक है।

खिलौने—शिशुओं के खिलौने सादे, हल्के तथा हानि न पहुँचानेवाले एवं मुख में न जा सकनेवाले होने चाहिए।

चित्र नं० ११

खिलौना

खिलौने ऐसे हों, जो सुगमता से धुल सकें। चिकने और नोक-रहित हों। बड़े बच्चों के लिये शिक्षाप्रद खिलौने होने

चाहिए। ऐसे न हों, जिनसे अशुद्ध और अश्लील विचार बढ़े। जैसे गुड़िया-गुड्डे का विवाह। खिलौनों को सदा क्रम
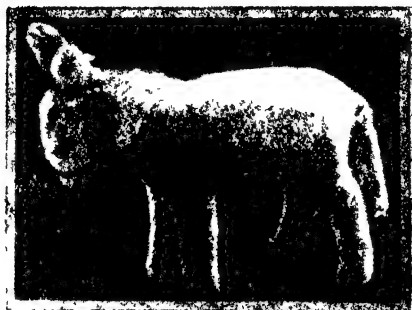
चित्र नं० १२

खिलौना

में रखना चाहिए, जिन्हें शिशु इच्छानुसार प्राप्त करके खेल सके *।

आदतें—शिशु के जीवन में यही सबसे मुख्य वस्तु है।

---

* क्रीडनकानि खल्वस्य तु विचित्राणि घोषवन्त्यभिरामाणि अगुरूण्यतीक्ष्णाग्राणि अनास्यप्रवेशानि अप्राणहराणि अवित्रासनानि स्युः।

न ह्यस्य वित्रासनं साधु। तस्मात्तस्मिन् रुदत्यभुञ्जाने वान्यत्र विधेयतामागच्छति। राक्षसपिशाचपूतनाद्यानामन्याहारयतो कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं न कार्यं स्यात्। (आत्रेयः)

चित्र नं० १३
खिलौना

चित्र नं० १४
खिलौना

चित्र नं० १५
लिखौना

इस समय जिस प्रकार की आधार-शिला रक्खी जायगी,

उसी प्रकार का मकान उस पर बनेगा। यदि इसी समय से उसका खान-पान नियमित मात्रानुकूल एवं नियत समय पर होगा, तो भविष्य में भी उसी प्रकार रहेगा। इसी प्रकार स्नान, दाँतों की शुद्धता, व्यायाम, सोने का समय, वस्त्रों का पहनावा इत्यादि स्वास्थ्य-विज्ञान के नियमों का अभ्यास करा दिया जाता है, तो वे जीवन का भाग ही बन जाते हैं। अतः आवश्यक है कि इनका अभ्यास करा दिया जाय।

साथ ही अँगूठा चूसना, तिनके तोड़ना, नख कुतरना, झूठ बोलना, चोरी करना, मद्य या अन्य व्यसन में मन लगाना आदि बुरी आदतों से विशेष प्रकार से शिशु की रक्षा करनी चाहिए। इन आदतों के पड़ने में नौकर या अशिक्षित धात्रियाँ मुख्य कारण होती हैं। अतः यह आवश्यक है कि शिशु का संपूर्ण पालन-भार माता-पिता अपने ऊपर रक्खें। वेतन-भोगी नौकर को उस पालन का क्या महत्त्व मालूम है। शिशु के लिये नौकर एक खिलौना है, जिसके साथ वह खेलता है। वह उसे प्रसन्न करने के लिये यथासंभव सब उपाय व्यवहार में लावेगा।

शिशु में नक़ल करने की प्रवृत्ति होती है। अतः जैसा आँखों देखता है, वैसा ही करता या करने का प्रयत्न करता है। इस प्रवृत्ति से दोनों प्रकार का कार्य हो सकता है। जहाँ शिशु में अच्छे गुणों का समावेश होता है, वहाँ अशुभ गुण भी इसी प्रकार आते हैं। माता-पिता का शिशु को अज्ञात, अबोध समझ-

कर उसके सामने आलिंगन, चुंबन, मद्य-पान करना और नौकरों का तंबाकू-सेवन आदि शिशु के हृदय पर सदा के लिये अंकित हो जाते हैं ; विशेषतः जब उसको गुड़िया-गुड्डे का विवाह करके दिखाया जाता है, अथवा नाटक, सिनेमा, थिएटर आदि तमाशों को दिखाने के लिये ले जाया जाता है, या उसके सामने ऐसी ही अन्य बातें की जाती हैं।

अतः आवश्यक है कि इनके स्थान पर शुभ गुणों को स्थान दिया जाय। उसके सामने ऐसे गुणों को रखना चाहिए, जिन्हें हम उसमें उतारना चाहते हैं।

इसके साथ आज्ञा-पालन, सत्य बोलना, धार्मिक विचार, स्वच्छता, संयम, स्वार्थ-त्याग की शिक्षा बचपन से ही आरंभ कर देनी चाहिए। उसे कड़े नियंत्रण में रखना चाहिए। यह कठोरता दंड के रूप में न होकर प्रेम के रूप में बदल देनी चाहिए। परंतु प्रेम वहीं तक रहना चाहिए, जहाँ तक उसकी सीमा है। सीमा से बढ़ा प्रेम शिशु को अशुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त कर देता है। इसलिए आवश्यक है कि पाँच वर्ष के पश्चात् अथवा दस वर्ष से पूर्व जब प्रेम से कार्य सिद्ध न हो, तो माता-पिता या शिक्षक का कर्तव्य है कि दंड की अवश्य सहायता लें *।

---

* लालयेत्पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत् ;
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रमिवाचरेत्।
लालनाद्बहवो दोषास्ताडनाद्बहवो गुणाः ;
तस्मात्पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्नतु लालयेत्।
(चाणक्य-नीतिः)

शिक्षा—शिशु की शिक्षा का आरंभ छः वर्ष से पूर्व न करना चाहिए *। इससे पूर्व का समय उसे खेलने-कूदने में तथा अन्य आवश्यक शुभ गुण संग्रह करने में व्यतीत करने देना चाहिए। जो गुण या अभ्यास इस आयु में हो सकते हैं, वे फिर सारी आयु मे नहीं आ सकते। इसके अतिरिक्त शीघ्र शिक्षा के आरंभ से शिशु का स्वास्थ्य गिरना आरंभ हो जाता है। उसका मस्तिष्क अपूर्ण उन्नत होने के कारण शिक्षा का भार नहीं उठा सकता।

शिक्षा का आरंभ किंडर गार्टन की रीति से करना चाहिए। बालकों की शिक्षा खिलौने से आरंभ हो। इससे जहाँ उनका खेल होगा, वहाँ शिक्षा के प्रति स्नेह भी उमड़ेगा। इससे थोड़े समय मे शिशु अधिक सीख सकता है। शिक्षा के समय प्रेम से ही अधिक काम लेना चाहिए। दंड को उसमे गौण कर देना चाहिए। घर के लिये पढ़ाई का कोई भी कार्य १२ वर्ष तक नहीं देना चाहिए। जो कुछ भी हो, वह सब पाठशाला के समय में ही समाप्त कर देना चाहिए।

छोटे बच्चों की पुस्तकें अच्छी, मोटे अक्षरों में छपी होनी

---

* ब्राह्मण का यज्ञोपवीत ८ वर्ष में, क्षत्रिय का ११ में और वैश्य का १८ में कर देना चाहिए।

(अष्टमे ब्राह्मणमुपनयीत, द्वादशे राजन्यं, अष्टादशे वैश्यमिति-मनुः।)

चाहिए। उनमें सत्य बोलना, आज्ञाकारी होना, स्वच्छता आदि धार्मिक एवं स्वास्थ्य-संबंधी पाठ होने चाहिए। बच्चे उदाहरणों से शीघ्र समझते हैं, अतः उन्हें समझाने या शिक्षा देने के लिये पुस्तकों में कहानी, उदाहरण, वार्ता आदि अवश्य होने चाहिए।

बच्चों की आँखों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। भूमि या फ़र्श पर बैठकर या लेटकर लिखना, झुककर पढ़ना जहाँ स्वास्थ्य को गिराता है, वहाँ आँखों पर चश्मा भी शीघ्र लगा देता है। बच्चे को सदा सीधे बैठना, सीधे रहना सिखाना चाहिए। उन्हें यदि फ़र्श पर बैठाया जाय, तो लिखने या पढ़ने के लिये छोटी-छोटी मेज़ (डेस्क) देनी चाहिए। उत्तम यही है कि स्टूल पर बैठाया जाय।

स्कूल खुले स्थान तथा वायु-मंडल में, प्राकृतिक दृश्यों से युक्त स्थान पर, बनाना चाहिए। तंग, बुरे वायु-मंडल का स्थान हानिकारक है। रात्रि को या कम प्रकाश में पाठ किसी प्रकार भी पढ़ने नहीं दिया जाय। प्रकाश सर्वदा वाम पार्श्व से आवे, और वह आँख पर न गिरकर पुस्तक पर गिरे। प्रकाश इतना तेज़ न हो, जिससे अक्षर अधिक चमकें या आँख चौंधिया जाय। आँख के निर्बल होने पर अवश्य ही योग्य चिकित्सक की सम्मति से चश्मे का उपयोग आरंभ कर देना चाहिए। शौक़ीनी के लिये आँखों पर चश्मा चढ़ानेवालों की इच्छा भगवान् शीघ्र ही पूर्ण करके उनको वास्तव में चश्मे के

ही योग्य बना देते हैं। आँख की निर्बलता रोकने का (चश्मा आदि से) अवश्य प्रयत्न करें *।

वस्त्रों में मूत्र-त्याग—प्रायः दो वर्ष से छोटी आयु के बच्चे में यह होना स्वाभाविक है। कारण, शिशु के मस्तिष्क में मल-मूत्र को नियंत्रण करनेवाला केंद्र उन्नत नहीं होता। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है, वह भी उन्नत होकर मल-मूत्र का नियंत्रण करने लगता है। दो वर्ष के शिशु को यदि मूत्र-त्याग कराके सुला दिया जाय, तो वह वस्त्रों में मूत्र नहीं करता।

जिन बच्चों में यह आदत हो, उनके लिये इन बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(१) रात्रि को सोते समय एवं बीच में (१२ बजे, १० बजे, २ बजे छोटों में ; ६ साल के शिशु में केवल १२ बजे) उठाकर मूत्र-त्याग करवा देना चाहिए। इससे शिशु को स्वयं उठने की आदत पड़ जायगी, वह स्वयं उठकर मूत्र-त्याग करने लगेगा।

(२) रात्रि को द्रव भोजन, विशेषतः सोने से पूर्व दूध या पानी पिलाना, बंद कर देना चाहिए।

(३) शिशु को यदि फ्राइमोसस या मलबंध अथवा कृमि के कारण उत्तेजना हो, तो उसकी चिकित्सा करवानी चाहिए।

---

* स्कूल स्वस्थवृत्त के लिये लेखक का 'स्वास्थ्य-विज्ञान' देखिए। यह पुस्तक गंगा-पुस्तकमाला में निकलेगी।

(४) यदि आवश्यक हो, तो दंड या प्रेम अथवा पारितोषिक से भी सहायता लेनी चाहिए।

नियत समय से पूर्व उत्पन्न शिशु

अर्वाचीन विज्ञान के द्वारा सात मास के प्रजात शिशु को कठिनता से एवं आठ मास के प्रसव को सुगमता से जीवित रक्खा गया है। शिशु को निश्चित ताप पर (जो गर्भाशय की उष्णिमा का होता है) एक यंत्र (Inculator) में रखते हैं। इसका ताप ७८ फ० होता है। यदि यह यंत्र न मिले, तो शिशु को रुई में लपेटकर, ७२ फ़ारनाहिट पर रखकर सीधी वायु आने देना चाहिए। शिशु को स्नान न कराकर उसके शरीर पर धीरे-धीरे जैतून का तेल मल देना चाहिए। ताप-परिमाण का ध्यान सब अवस्थाओं में, सब समय रखना आवश्यक है। शिशु दूध चूस नहीं सकता, अतः पहले दिन पानी और खीस मुँह में पिलानी चाहिए। १ या २ ड्राम कच्ची लस्सी दे सकते हैं। शुद्ध नमक के $\frac{1}{2}$ औंस से ३ या ४ एनीमे करने चाहिए। एनीमा देते समय टाँगें ऊपर रखनी चाहिए। दूसरे दिन कच्ची लस्सी दें। तीसरे दिन यदि संभव हो, तो ब्रेस्ट पंप से दूध निकालकर चम्मच से दें। एनीमे पहले की भाँति। चौथे दिन यदि मिल्क-मिक्श्चर न देना हो, तो दूध और पानी समान भाग में मिलाकर दें।

शिशु को रुई पर लिटाकर उस पर परों का तकिया डाल देना चाहिए। तकिए के नीचे तीन भट्टीया (?) रख देनी

चाहिए। साथ में ताप-मापक यंत्र लगा देना चाहिए। ताप ७६°
से कम और ६४ फ़ारनाहिट से अधिक नहीं होने देना चाहिए।
गरमी सदा एक-सी रखनी आवश्यक है।

स्वस्थ शिशु की आवश्यक पहचानें

स्वस्थ शिशु दूध निगलता है, वमन नहीं करता। स्तन या बोतल पकड़ लेता है। प्रथम २४ घंटों में तीन या चार बार मल त्याग करता है। अधिक देर (डेढ़ घंटे) तक लगातार नहीं रोता। गुदा में ताप प्रथम तीन दिन १००° फ़ा० रहेगा। नाड़ी तेज़, मल नर्म, पीले रंग का (हरे रंग का नहीं), जिह्वा मैली और त्वचा पर कोई धब्बा न होगा। स्वस्थ शिशु भार में बढ़ेगा। माथे पर पसीना नहीं आता। पूर्व विवर स्वस्थता का बड़ा अच्छा चिह्न है।

प्रथम मास की अवस्था—प्रथम दो दिनों की भाँति प्रकाश नहीं देख सकता। कृत्रिम प्रकाश देखकर प्रसन्न होता है। चतुर्थ दिन से सुनना आरंभ करता है। नहाने और दूध पीने से खुश होता है। सबसे प्रथम स्वाद की शक्ति प्रकट होती है, फिर सूँघने, छूने, देखने और सुनने की शक्ति प्रकट हो जाती है।

द्वितीय मास—आदमी की आवाज़ पहचानता है। शब्द सुनकर सिर मोड़ लेता है। गाना सुनकर, पुरुष के चेहरे को देखकर प्रसन्न होता है। ३ से ६ घंटे सोता है।

तृतीय मास—माता-पिता को देखकर चीख मारता है। आवाज़ सुनकर चौंक पड़ता है।

चतुर्थ मास—आँख की गति पूर्ण हो जाती है। दूर की वस्तु पकड़ना चाहता है। शीशे में मुख देखकर हँसता है। सिर सीधा रखने लगता है। यदि ऐसा न करे, तो संभवतः उसे कोई रोग होता है।

पंचम मास—काग़ज़ फाड़ने लगता है। बाल खींचता है। घंटी बजाता है। विना भोजन किए १० घंटे सोता है। √

षष्ठ मास—ख़ुशी के साथ हाथ-पैर हिलाने और बैठने लगता है।

सप्तम मास—मुख और आँखों से आश्चर्य प्रकट करता है। इनकार करने के लिये सिर हिलाता है।

अष्टम मास—सुनकर, देखकर चौंकता है। पशुओं को देखकर रोता है।

नवम मास—विना सहारे बैठने और खड़ा होने लगता है। ख़ुशी से ताली पीटता है। जब कुछ पसंद नहीं आता, तो आँखें बंद कर लेता है। सिर घुमा लेता है। कुत्ते से डरता है। बोलने की अपेक्षा प्रश्न समझने लगता है।

दशम मास—टब में विना सहारे बैठ जाता है। चलना आरंभ करता है। मा, अम्मा, लाला कहने लगता है।

एकादश मास—विना सहारे खड़ा हो जाता और बैठने लगता है।

द्वादश मास—विना सहारे नहीं चल सकता। हाथ माँगने पर हाथ पकड़ा देता है।

त्रयोदश मास—इनकार के लिये सिर हिलाता है। कुछ-कुछ समझता है।

चतुर्दश मास—बिना सहारे नहीं चल सकता। कुर्सी पर खड़ा हो जाता है।

पंचदश मास—बिना सहारे चलने लगता है। मुस्किराता है।

षोड़श मास—भागने लगता है। कभी-कभी गिर जाता है।

तीसरा प्रकरण

भोजन (दूध)

शिशु का मुख्य भोजन दूध है। इसी पर उसका पोषण और जीवन निर्भर है। यह दूध हमें तीन स्थानों से मिलता है—

(१) माता का दूध। यह शिशु का मुख्य एवं सर्वोत्तम भोजन है।

(२) धात्री का दूध। यह माता के दूध के समान होता है, परंतु स्नेह का भाव प्रायः कम रहता है।

(३) कृत्रिम दूध। यह उपर्युक्त दूध के अभाव में या दूषित होने पर प्रयोग किया जाता है। चूँकि यह शिशु का स्वाभाविक भोजन नहीं, अतः शिशु भार और स्वास्थ्य सब बातों में उपर्युक्त दूध से पाले जानेवालों की अपेक्षा न्यून रहता है।

माता का दूध

।माता का शुद्ध दूध तीसरे दिन स्तनों में प्रकट होता है। स्तन देने से पूर्व स्तनों को बोरिक-लोशन से धो लेना चाहिए। माता को करवट के बल लेटकर स्तन का चूचुक शिशु के मुख

में देना चाहिए। शिशु की नाक का ध्यान रखना चाहिए कि वह स्तन पर न लगी रहे। एक बार में एक ही स्तन से दूध

चित्र नं० १६
बच्चे को दूध पिलाना

देना चाहिए। दूसरा स्तन दूसरी बार के लिये रखना चाहिए। यदि दो शिशु हों, तो उनका स्तन निश्चित कर देना चाहिए। यदि किसी माता के एक ही स्तन में दूध आता हो, तो उसे कृत्रिम दूध (बोतल) की सहायता लेनी चाहिए।

दूध की मात्रा

बिना वमन किए शिशु जितना दूध पी सके, या उसके मल के द्वारा छिछड़ों के रूप में बाहर न आवे, उतनी मात्रा दूध की

देनी चाहिए। अपनी मात्रा शिशु स्वयं जानता है। वह स्वयं स्तन को छोड़ देता है, परंतु माताएँ ज़बरदस्ती स्तन मुख में दे देती हैं। यदि शिशु वमन करे, तो अगली बार दूध की मात्रा घटा देनी चाहिए। साथ ही उसके पीने का समय ध्यान में रखना चाहिए। यदि दूध २० मिनट तक पीकर वमन करता है, तो दूसरी बार १५ मिनट देना चाहिए। ऐसा तब तक करना चाहिए, जब तक शिशु वमन न करे। दूध की राशि जानने के लिये दूध पिलाने से पूर्व और पश्चात् तोल लेना चाहिए। इससे दूध की राशि मालूम हो जायगी।

स्तनों का ध्यान

दूध पिलाने के पूर्व और पश्चात् स्तनों को गरम पानी या बोरिक-लोशन से धो देना चाहिए। यदि चूचुक दबे हों, तो उनको शराब और पानी से धोना चाहिए, एवं बाहर की ओर खींचना चाहिए। इससे स्तन कड़े भी हो जाते हैं। स्तनों पर फुंसियाँ नहीं होने देना चाहिए।

दूध पिलाने का समय

यदि माता जागती हो, तो शिशु की उत्पत्ति के ६ घंटे बाद दूध दिया जा सकता है। दूध प्रथम २४ घंटों में दो बार, दूसरे २४ घंटों में दिन में तीन बार और रात में एक बार देना चाहिए। यदि प्यास के कारण शिशु चिल्लावे, तो एक ड्राम पानी (बिना मीठे के) देना चाहिए। तीसरे

दिन से प्रत्येक तीन घंटे के अंतर से दूध आरंभ करके रात को एक बार देना चाहिए। यदि दूध के समय पर शिशु सोता हो, तो उसे जगा देना चाहिए। कई बार जगाने पर नींद के कारण दूध नहीं पीता। ऐसी अवस्था में दूध बीच में न देकर उसके दूसरे निश्चित समय पर ही देना चाहिए। यदि बीच में आवश्यकता पड़े, तो दूध न देकर पानी देना चाहिए। पानी में मीठा नहीं डालना चाहिए, अन्यथा शिशु इसे अधिक मात्रा में पी जायगा। नियत समय पर दूध देने से शिशु का स्वभाव और स्वास्थ्य, दोनो उत्तम बन जायँगे। नियत समय पर पाचन होने से मल-त्याग की आदत भी निश्चित समय पर ही होगी।

शिशु के चूसने से स्तन के चूचुक-तंतु पीछे हट जाते हैं। इसके लिये माता को चाहिए कि वह उँगलियों से इनको खींचती रहे। शिशु यदि चूचुक न ले, तो प्रतिदिन देने का अभ्यास करना चाहिए।

दूध पिलानेवाली माता का ध्यान

इन दिनों गर्भावस्था की भाँति अधिक भोजन की प्रथा का प्रचार है, जो अपचन का कारण बनकर माता और शिशु दोनो के लिये हानिकारक है। अतः आवश्यक है कि माता अपने भोजन की राशि और उसका समय निश्चित कर ले। मलबंध न हो, इसलिये पानी, फल और हरी सब्जियों का उपयोग

अधिक मात्रा में करना चाहिए। यदि मलबंध हो जाय, तो मृदु विरेचक दिए जाने चाहिए।

यदि माता के स्तनों में दूध कम हो, या देर में आता हो, तो दूध और पानी की अधिक मात्रा भोजन के बीच-बीच में (भोजन के साथ नहीं) देनी चाहिए।

वातिक प्रकृति, शौक़ीनी या अन्य कठिनता के कारण कभी-कभी माताएँ शिशु को अपना दूध जानकर नहीं पिलातीं, या पिलाने में असमर्थता अनुभव करती हैं *। ऐसी अवस्था में यदि दूध में कोई विकार न हो, तो उनको भले प्रकार समझा देना चाहिए कि यह शिशु का स्वाभाविक भोजन है। इसके बिना उसका मन एवं शरीर उन्नति नहीं कर सकता। अच्छे गुणों, स्नेह आदि, का प्रभाव शिशु पर दूध के द्वारा होता है †।

लॅक्ले गॉल भी दूध की मात्रा बढ़ाने का उत्तम साधन है।

---

* जिस प्रकार इष्ट, प्रिय वस्तु के स्पर्शन, दर्शन और श्रवण से उत्पादक अंगों में रक्त-संचार बढ़कर उत्तेजना उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार पुत्र का स्पर्शन, श्रवण एवं दर्शन भी स्तनों में रक्त-संचार बढ़ा देता है, जिससे दूध अधिक राशि में उत्पन्न होता है।

स्नेहो निरन्तरस्तस्य प्रस्रवणे हेतुरुच्यते (सुश्रुत)

† जिस स्त्री को बच्चों से प्रेम नहीं, उससे विवाह न करे।

Especially avoid all women who in any way show disrespect for their Parents, or who dislike children.

मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तत्परं बालवृद्धये।

पिछले मासों में, अर्थात् प्रथम मास के पश्चात्, दूध चार-चार घंटे के अंतर से देना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जाता, तो आमाशय में स्वतंत्र उदहरिकाम्ल नहीं मिलता, जो कृमिदर एवं अगले भोजन के लिये आमाशय को तैयार करता है।

दूध पिलानेवाली माता को तीव्र विरेचन, एरंड-तैल, आयो-डाइड, अफ़ीम, बैलोडोना (धतूरा) या ब्रोमाइड कदापि न देने चाहिए। कारण, इनका प्रभाव स्तनपायी शिशु पर दूध के द्वारा होता है।

यदि शिशु स्तन मुख में न ले या दूध न पीता हो, तो दूध को खुले पात्र में उबालकर उसे रक्त की उष्णिमा पर शीघ्रता से ठंडा कर देना चाहिए। फिर स्तन मुख में देने के बाद १, २, ३, ४ ड्राम की मात्रा में (धीरे-धीरे बढ़ाते हुए) देना आरंभ करना चाहिए। इसमें शर्करा और पानी नहीं मिलाना चाहिए, अन्यथा शिशु अधिक मात्रा में नहीं पिएगा। इस प्रकार उसे स्तन के दूध का अभ्यास हो जायगा, और वह बोतल से बच सकता है।

इन अवस्थाओं में शिशु को माता का दूध नहीं देना चाहिए—

१. जब माताओं को व्यापक रोग (यक्ष्मा आदि) हों।

२. जब स्तनों में दूध न हो।

३. जब माता में कोई संक्रामक विष (Sepsis) हो।

४. जब माता की आँतों में शोथ हो।

५. जब माता पागल हो।

६. जब माता का बहुत-सा रक्त प्रसूति में निकल गया हो।

७. जब माता का दूध पिलाने से स्वास्थ्य विकृत हो जाता हो।

८. जब माता को बाहर जाकर कार्य करना पड़े।

९. जब माता का दूध दूषित हो।

१०. जब माता गर्भवती हो *।

उपदंश-रोग से ग्रस्त माता अपने शिशु को दूध पिला सकती है।

माता का दूध बंद करना

उपर्युक्त या अन्य अवस्थाओं (स्तनविद्रधि आदि) में दूध को नष्ट करना पड़ता है। इसके लिये—

(१) प्रसूति के बाद छाती पर कसकर एक पट्टी बाँध देनी चाहिए।

(२) केयर ऑयंटमेंट (पीला मोम १ भाग और जैतून का तेल ८ भाग) या बैलोडोना का प्रयोग करना चाहिए।

(३) तीव्र विरेचन (Seline Purge) दे देना चाहिए।

यदि स्तन सूज जायँ, तो ब्रेस्ट-पंप से एक ड्राम दूध निकाल लेना चाहिए। इससे दर्द कम हो जायगा। इसके लिये दिन में तीन बार २० ग्रेन की मात्रा में पोटाशियम-एसिटेट भी देना उत्तम है।

---

* मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि ;
युज्यते कोष्ठवृद्ध्या तु तमाहुः पारिगर्भिकम्। (सुश्रुत)

चिरकाल तक ब्रस्ट-पंप या मालिश स्थायी हानि कर देती है।

नीचे लिखी अवस्थाओं में बच्चे को चम्मच से दूध देना चाहिए—

१—जिनका Cleft Palet (तलुवा) खुला न हो।

२—जिनका Hare-lip (ऊपर का होंठ) जुड़ा न हो।

३—जिनके उपदंश के अथवा अन्य व्रण मुख के चारो ओर हों।

धात्री का दूध

कई बार जब शिशु किसी भी प्रकार भार और स्वास्थ्य में उन्नति नहीं कर सकता, तो उसे दूसरी माता की आवश्यकता होती है। शिशु के लिये यह दूध उतना उत्तम नहीं, जितना माता का। इसका मुख्य कारण स्नेह का अभाव है।

धात्री में निम्न-लिखित गुण होने चाहिए*—

---

* समानवर्णां यौवनस्थां निभृतामनातुरामव्यङ्गामव्यसनामविरूपामजुगुप्सितां देशजातीयामक्षुद्रां अक्षुद्रकर्मणि कुले जातां वत्सलां अरोगजीवद्वत्सां पुंवत्सां दोग्ध्रीमप्रमत्तां अशायिनीमनुधारशायिनीं अनत्यावशायिनीं कुशलोपचारां शुचिमशुचिद्वेषिणीं स्तन्यसम्पदुपेतामिति।

लभेयं स्तनसम्पत्—नात्यूर्ध्वौ, नातिलंबौ, अनतिकृशौ, अनतिपीनौ, युक्तपिप्पलकौ, सुखप्रपानौ चेति स्तनसम्पत्। स्तन्यसम्पत् तु प्रकृतिवर्णगन्धरसस्पर्शमुदकपात्रेश्च दुह्यमानं दुग्धमुदकं वेति, प्रकृतिभूतत्वात् तत्पुष्टिकरमारोग्यकरं चेति स्तन्यसम्पत्। अतो ह्यथा व्यापन्नं ज्ञेयं। यदद्भिरेकतां याति न च दोषैरधिष्ठितं तद्विशुद्धं पयः।

१. उसे संक्रामक या व्यापक रोग (उपदंश, यक्ष्मा, कामला) न हो।

२. उसका शिशु भी उसी आयु का ही हो।

३. वह पूर्ण स्वस्थ हो।

कृत्रिम दूध

संपूर्ण शिशु-पालन में यह विषय सबसे मुख्य है। इस विषय में लिखा भी बहुत कुछ गया है। परंतु उसे देखकर एक नवीन चिकित्सक घबरा जाता है।

इस दूध की आवश्यकता तब पड़ती है, जब माता शिशु को दूध नहीं पिला सकती, या पिलाना नहीं चाहती, एवं धात्री का मिलना असंभव होता है। यह दूध बोतल द्वारा दिया जाता है, अतः इसे Bottle feeding भी कहते हैं। इस दूध की आवश्यकता को देखने के लिये या इस दूध की सफलता का साक्षी शिशु का भार है। भार में घटना इसकी आवश्यकता को बताता है। माता का दूध यदि शिशु का भार नहीं बढ़ा सकता, तो कृत्रिम दूध देना चाहिए।

माता के दूध का सबसे उत्तम स्थानी दूध गाय का दूध है। इसमें केवल कैसीन की अधिकता ही बाधक होती है। अतः इसको हलका कर लेना चाहिए। हलका करने के लिये दूध में पानी समान भाग मिलाना चाहिए। पानी के स्थान में यवोदक (Barley water) या सुधा-जल (Lime water) का

भी उपयोग किया जा सकता है। इससे दूध सुगमता से पच जाता है। गाय के और मा के दूध में निम्न-लिखित अंतर है—

	माता का दूध	गाय का दूध
प्रोटीड	१ भाग (१॥ %)	२ या ३ भाग (३ %)
शर्करा	२ या ३ भाग (६॥ %)	१ भाग (४॥ %)
वसा	कुछ कम (३॥ %)	कुछ अधिक (४ %)
Lecithin	अधिक	कम
सायट्रिक एसिड	उपस्थित	अभाव
प्रतिक्रिया	क्षारीय या मृदु अम्ल	अम्ल

गाय के दूध को माता के दूध में बदल देना—

दूध १॥ औंस
क्रीम १ औंस
सुधा-जल आधा औंस
धुली दुग्ध-शर्करा १॥ औंस
सोडा सायट्रेट ३ ग्रेन

प्रथम २४ घंटों में इसके अंदर ३ भाग पानी और एक भाग यह मिक्श्चर मिलाकर देना चाहिए। फिर दूसरे २४ घंटों में आधा पानी, आधा मिक्श्चर दें। प्रत्येक भोजन में इसकी मात्रा १ औंस से ३ औंस होनी चाहिए।

दूसरा प्रश्न मिक्श्चर के भार तथा कितनी बार देने का उठता है। इसके लिये नीचे की तालिका उपयुक्त होगी। यह आवश्यक नहीं कि इसमें परिवर्तन होना संभव नहीं। माता को आदेश कर दें कि जितनी मात्रा विना किसी हानि के शिशु पी सके, उसे देना चाहिए—

आयु	दिन में अंतर से	रात्रि-समय	राशि
१ सप्ताह तक	२ घंटे	२ बार	१ से १॥ औंस
२ से ३ सप्ताह	२ ,,	२ ,,	१॥ से ३ ,,
४ से ५ ,,	२ ,,	१ ,,	२॥ से ३॥ ,,
६ से १२ ,,	२॥ ,,	१ ,,	३ से ४॥ ,,
३ से ५ मास	३ ,,	१ ,,	४ से ५॥ ,,
५ से ६ ,,	३ ,,	...	५॥ से ७ ,,
६ से १२ ,,	३॥ ,,	...	७ से ६ ,,

एक साल के पश्चात् विना हलका किए दूध दिया जा सकता है। इस समय यदि पानी मिलाकर दिया जायगा, तो जहाँ आमाशय का रस हलका होगा, वहाँ दूध भी हल्का हो जायगा। दूध देने से पूर्व उसे ३० मिनट उबाल लेना चाहिए।

खाली गाय के दूध में वसा अधिक होती है। यदि इसमें शर्करा मिला दें, तो कर्बोज की मात्रा भी ठीक हो जाती है। इसमें कैसीन अधिक होती है, जो आँतों से निकलती है। अतः इसे पीनेवाले शिशुओं को मल-बंध नहीं होता।

खाली दूध पिलाने से शिशु को प्यास अधिक लगती है। उसे १ ड्राम पानी देते रहना चाहिए। दूध पानी पिलाने के तीन घंटे बाद देना चाहिए।

छठे मास से शिशु का भोजन कठोर कर देना चाहिए, क्योंकि इस अवस्था में प्रकृति उसे दाँत देना आरंभ कर देती है। यह कठोरता स्टार्च या उन पेटेंट भोजनों से की जा सकती

है, जिनमें यह होती है । यथा मैलंस या बैंजरस फ़ूड, आरारूट आदि से। दूध में डालकर (एक ड्राम मात्रा में) उबालना चाहिए ❀ ।

बोतल

बोतल का आकार बूट जूते के आकार का होना चाहिए। इसमें रबर की टोंटी लगी होनी चाहिए। इसके लिये या तो Oval Hygienic Feeder या Mow's Universal Feeding Bottle उत्तम है। यथासंभव रबर-ट्यूब बोतलों से बचना चाहिए। इनकी स्वच्छता कठिन है। अतः बच्चों का स्वास्थ्य गिर जाता है । माता का ध्यान बोतल की सफ़ाई की ओर विशेष रूप से खींचना चाहिए। छिद्र के छोटे होने से कई बार शिशु को दूध ठीक तौर से नहीं मिलता। इस परीक्षा के लिये बोतल को उल्टा पकड़कर यह देखना चाहिए कि एक सेकंड में एक बूँद आता है या नहीं। उत्तम हो कि दो बोतलें बरती जायँ। एक को स्वच्छ करने के लिये सोडे के पानी से धोवें, दूसरी का व्यवहार करते रहें। दूध कच्चा दिया जाय या उबालकर ? इस प्रश्न पर इतना लिखा हुआ है, जितना इस विषय का महत्त्व भी नहीं। दूध को इतना गरम करना चाहिए कि वह उबले नहीं, परंतु उसकी सीमा तक पहुँच जाय। साथ में फलों के रस देने चाहिए। ग्रीष्म-ऋतु में दूध

❀ षष्ठे मासे चैनमन्नं प्राशयेल्लघु (सुश्रुत)

अवश्य गरम करके देना चाहिए, अन्यथा फटकर अतिसार का कारण बनता है।

निर्बल शिशुओं का भोजन

कार्य की सफलता शिशु की भार-वृद्धि से जान सकते हैं। यदि भार नहीं बढ़ता, तो मिश्रण में दो प्रकार के दोष हो सकते हैं—

१. मिश्रण से भार तो बढ़ रहा हो, परंतु साथ ही आमाशय-विकार के लक्षण भी हों।

२. भार घट रहा हो या स्थिर हो, एवं आमाशय-विकार भी हो।

ऐसी अवस्था में मेरी सम्मति यही है कि यदि शिशु छोटा है, तो उसका मिश्रण और भी हल्का कर दो। यदि दूध और पानी समान भाग में हैं, तो दूध १ और पानी २ भाग कर देना चाहिए। कई बार अधिक भोजन के कारण भी वृद्धि नहीं होती।

यदि इससे भी सफलता न हो, तो नीचे की विधियाँ क्रमशः एक-एक प्रयुक्त करके देखनी चाहिए। इनका उपयोग कम-से-कम एक सप्ताह तक अवश्य करना चाहिए, नहीं तो माताओं के वचन पर तुम्हें धोखा होना संभव है।

दूध को बहुत हल्का (अर्थात् १ और ३ के अनुपात में) करने से कोई लाभ नहीं। ऐसे स्थान पर जमा दूध (Condensed milk) बिना स्टार्च का देना चाहिए। यह भोजन पहले मास से ३ मास तक दे देना चाहिए। ६ मास के बाद यह दूध नहीं देना चाहिए।

इसके दो प्रकार हैं—एक वह, जो मीठे हैं, दूसरे जो मीठे नहीं हैं। मेरी सम्मति में दूसरे प्रकार के दूध उत्तम हैं।

ये दूध इसलिये पचते हैं कि बहुत हलके करके दिए जाते हैं। चूँकि १'२४ के अनुपात में हलका किया जाता है, इससे इसमें कैंजिन की राशि बहुत कम हो जाती है। यदि इसमें थोड़ी-सी राशि ऐसेटिक एसिड की मिलाकर पैप्टोनाइज्ड दूध से तुलना करके देखें, तो भेद स्पष्ट हो जायगा।

इसके स्थान पर साइट्रेटेड दूध भी दिया जा सकता है, जो १ औंस में १ ग्रेन सोडासाइट्रेट मिलाकर बन जाता है। इससे छिछड़ा कठोर नहीं बनता।

शुष्क दूध

कैंजिन को सुखाते समय कुछ ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं, जिनसे चक्का कठोर नहीं बनता।

इसके लिये सबसे उत्तम ग्लैस्को दूध है, जो सुकुमार-से-सुकुमार बच्चे को भी दिया जा सकता है।

पैप्टोनाइज़्ड दूध

Fairchild's Peptonising milk Powder से बनाया जाता है। आरंभ में दूध ८ भाग और पानी २५ भाग लेकर पैप्टोनाइज्ड करना चाहिए।

यदि इन सबसे सफलता न हो, तो 'ग्रे पाउडर' (Hydrargyrum Cum creta) का उपयोग करके देखना आवश्यक है।

भोजन न पचने का मुख्य कारण कैज़िन है। दूध से रेनेट (Renet) के द्वारा उसे निकालकर लस्सी (Whey) के रूप में देना चाहिए। इस लस्सी को पैप्टोनाइज्ड कर लिया जाय, तो उत्तम है। इसमें वसा की न्यूनता के लिये ६ से ८ भाग लस्सी में एक भाग क्रीम मिला देनी चाहिए। क्रीम के स्थान पर मैलंस फ़ूड मिला सकते हैं।

यदि इन सबसे कुछ न हो, तो दंतोद्गम के समय तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। उस समय ये विकार प्रायः स्वयं हट जाते हैं।

परंतु कई शिशुओं में कोई भी उपाय काम नहीं करता। उनका शरीर सूखता जाता है। अतिसार आरंभ हो जाता है, यथा कार्श्य या शोष-रोग में। अंत में शिशु मर जाता है।

पेटेंट भोजन

सुगमता के लिये डॉक्टर हैंचिसन ने इन्हें तीन भागों में बाँट दिया है—

(१) जो पूर्ण रूप से माता के दूध के स्थानापन्न हो सकते हैं।

(२) जो दूध से बनाए जाते हैं, परंतु पाचक भाग कृत्रिम होता है।

(३) जिनमें निशास्ता होता है। ये भोजन ६ मास से पूर्व भूलकर भी नहीं देने चाहिए। प्रथम दोनो भोजनों में शिशु को दुकवों से बचाने के लिये फलों के रस देने चाहिए।

दंतोद्गम के समय जब गाय का दूध न मिले, तब इन भोजनों का उपयोग करना चाहिए। इस समय शुष्क भोजन उत्तम रहते हैं। जिस भोजन में वसा कम होती है, उससे शिशु में रिकेट्स होने का भय रहता है।

दूध छुटाना

जब तक दंतोद्गम न हो, बच्चे को दूध से सर्वथा पृथक् नहीं करना चाहिए। न कोई निशास्ते का भोजन तब तक देना चाहिए। दूध छुटाने का समय १० से १२ मास का है। दूध छुटाने के लिये स्तन के स्थान पर क्रमशः चम्मच से दूध देना आरंभ करना चाहिए। कई बार चम्मच के स्थान पर बोतलें बरती जाती हैं। दूध छुटाने में ३-४ मास लग जाते हैं। गरमियों में दूध भूलकर भी बंद नहीं करना चाहिए, अन्यथा अतिसार हो जायगा। कई माताएँ रुपया बचाने के लिये या शीघ्र गर्भवती न हों, इसलिये देर तक दूध पिलाती रहती हैं। ऐसी अवस्था में माता का स्वास्थ्य गिरने की अधिक संभावना है।

दूध छुटाने के समय ९ से १२ मास का भोजन

पहला भोजन—(७॥ बजे प्रातः) दूध जई के आटे से या एलनबरी नं० ३ से अथवा मैलिंस फ़ूड से घना करके देना चाहिए।

दूसरा भोजन—(१०॥ से ११ बजे प्रातः) गरम दूध शुद्ध या आधा सुधा-जल मिलाकर।

तीसरा भोजन—(१॥ से २ बजे) गरम दूध।

चौथा भोजन—(५ बजे शाम) पूर्ववत्।

पाँचवाँ भोजन—(६ से १० बजे शाम) गरम दूध।

इस अंतर में बोतल का प्रयोग कम करते हुए शिशुओं को चम्मच या कटोरे का उपयोग करना चाहिए। दिन-भर की राशि १। सेर से अधिक नहीं होनी चाहिए। बीच में प्यास लगे, तो पानी देना चाहिए। दस मास के बाद नरम वस्तु—मक्खन, खुरचन, मलाई आदि—देनी चाहिए।

१२ मास से १८ मास तक

पहला भोजन—(७॥ बजे प्रातः) ४ छटाँक जई के आटे से गाढ़ा दूध या रोटी और मक्खन देना चाहिए।

दूसरा भोजन—(११ बजे) एक प्याला शुद्ध दूध।

तीसरा भोजन—(१॥ बजे) चाय या आलू भूनकर दे या दूध, रोटी, मक्खन और गरम दूध।

१८ मास से ३ वर्ष तक

पहला भोजन—(८॥ बजे प्रातः) दूध

दूसरा भोजन—(१२॥ बजे) ,,

तीसरा भोजन—(४॥ बजे रोटी, मक्खन, संतरे और फल।

चौथा भोजन—(६॥ बजे) गरम दूध और बिस्कुट।

पाँचवाँ भोजन—(,,) ,, ,,

कृत्रिम दूध की तालिका

आयु	हल्का करना अनुपात में	दूध पिलाने की संख्या	भोजन की राशि	२४ घंटों की राशि	दूध में खाँड़	क्रीम
२ से ७ दिन	१ से ३	८	१। औंस	१० औंस	छोटा आधा चम्मच	छोटा आधा चम्मच
१ मास	१ ,, २	८	२।। ,,	२० ,,	,, ,,	,, ,,
२ ,,	१ ,, १।।	७	४ ,,	२८ ,,	१ ,,	।।। ,,
३ ,,	१ ,, १	७	४।। ,,	३२ ,,	१। ,,	।।। ,,
४ से ५ मास	१ ,, ।।	६	५।। ,,	३३ ,,	१।। ,,	१ ,,
६ से ७ मास	१ ,, ।	६	७ ,,	४२ ,,	१।। ,,	१ ,,
८ ,, ६ ,,	शुद्ध दूध	६	७ ,,	४२ ,,	१ ,,	१ ,,

स्तनपायी तथा कृत्रिम दुग्ध पर पाले जानेवाले शिशुओं की भोजन-तालिका

शिशु की आयु	दूध की संख्या २४ घंटों में	बीच का अंतर	रात की संख्या १० बजे रात से ७ बजे सुबह तक	एक बार की मात्रा	राशि २४ घंटों की
प्रथम दिवस	४	६ घंटे	१	१ औंस	४ औंस
द्वितीय दिवस	६	४ ,,	१	१ से १·५	६ से ६ ,,

तृतीय-सात दिन	१०	२ ,,	२	१.५ ,, २	१५ ,, २० ,,
३ से ४ सप्ताह	१०	२ ,,	२	२ ,, २.५	२० ,, २५ ,,
१ ,, ३ मास	८	२॥ ,,	१	३ ,, ४.५	२० ,, ३६ ,,
३ ,, ५ ,,	७	३ ,,	१	४ ,, ५.५	२८ ,, ३८ ,,
५ ,, ६ ,,	६	३ ,,	१	५.५ ,, ७ तक	३२ ,, ४२ ,,
६ ,, १२ ,,	५	३॥ ,,	...	७॥ ,, ६ तक	३८ ,, ४५ ,,

अवस्था	दिन में भोजन का अंतर	रात्रि में भोजन	२४ घंटे में भोजन	भोजन की मात्रा एक बार	कुल राशि २४ घंटों में
१ से ७ दिन	२ घंटे	२ बार	१० बार	१॥ से ॥। छटाँक	५ से ७॥ छटाँक
२ ,, ३ सप्ताह	२ ,,	२ ,,	१० ,,	॥। ,, १॥ ,,	७॥ ,, १५ ,,
४ ,, ५ सप्ताह	२ ,,	१ ,,	१० ,,	१॥ ,, २ ,,	१३ ,, १८ ,,
६ सप्ताह से ३ मास	२॥ ,,	१ ,,	८ ,,	२ ,, २॥ ,,	१३ ,, २० ,,
३ ,, ५ ,,	३ ,,	१ ,,	७ ,,	२ ,, ३ ,,	१४ ,, २१ ,,
५ ,, ६ ,,	३ ,,	...	६ ,,	२॥ ,, ४ ,,	१५ ,, २३ ,,
६ ,, १२ ,,	४ ,,	...	५ ,,	३॥ ,, ४॥ ,,	१८ ,, २४ ,,

भोजन-संबंधी रोग और उनका प्रतिकार

इन रोगों के कारणों को दो भागों में बाँट दिया है—

१. दूध-संबंधी—१. भोजन का कठोर होना। २. भोजन का नरम होना। ३. शिशु ठीक प्रकार से न पी सके। ४. उचित रूप से न दिया जाय। ५. पर्याप्त द्रव न हो। ६. भोजन उचित न हो। ७. उदर-शूल, वमन, अतिसार, मलबंध आदि हो जायँ।

२. अन्य कारण—१. शिशु को अधिक गरम रक्खा जाय। २. पर्याप्त शुद्ध वायु का अभाव। ३. अन्य रोग।

जब भोजन कठोर हो

यह शिकायत प्रायः कृत्रिम दूध पर पाले जानेवाले शिशुओं में होती है। शिशु का भार नहीं बढ़ता। शिशु दूध पीकर उगल देता है। मलबंध या अतिसार रहता है। उदर-शूल रहता है। मल में वसा या छिछड़ा होगा। मल का रंग श्वेत होता है।

ऐसी अवस्था में शिशु का भोजन हलका कर देना चाहिए। यवोदक न देकर सुधा-जल (Lime water) या साइट्रेट ऑफ़ सोडा देना चाहिए। दूध पिलाने का अंतर पहले से आधा घंटा बढ़ा देना चाहिए। इनसे परिवर्तन न हो, तो जिस प्रकार निर्बल शिशु को भोजन देते हैं, वैसे देना चाहिए।

जब भोजन नरम हो

यह शिकायत प्रायः स्तन के दूध पर पाले जानेवाले शिशुओं में होती है। इसका मुख्य कारण वसा की न्यूनता है। शिशु दूध

पीने के बाद भी जागता रहेगा। उसका भार नहीं बढ़ेगा। प्रायः मलबंध रहेगा। मूत्र गाढ़ा होने से नैपकिन (रूमाल) पर रंग आ जाता है।

इसके लिये माता के दूध में वसा बढ़ाने के लिये माता को गरिष्ठ भोजन, घी या दूध में घी डालकर, देना चाहिए। अन्य अवस्था में खाँड़ और क्रीम बढ़ाकर यवोदक और सुधा-जल की राशि घटा देनी चाहिए। इस परिवर्तन के साथ शिशु को दिए जानेवाले दूध की मात्रा देख लेनी चाहिए। कहीं कम तो नहीं दिया जाता। इसके साथ मक्खन, कॉडलिवर ऑयल और पेटेंट फ़ूड भी व्यवहार हो सकते हैं।

जब शिशु उचित रूप से दूध न पी सके

यह प्रायः निम्न-लिखित कारणों से होता है। यथा—

१. चूचुक दबे हुए हों—इसके लिये पानी और अलकोहल को सम भाग लेकर मलें, एवं चूचुकों को बाहर की ओर दिन में कई बार खींचें।

२. दूध पीते समय यदि स्तन पर शिशु हाथ लगाता हो, तो उसे हटाना चाहिए।

३. Hare lip और Cleft Palate की अवस्था में शस्त्र-क्रिया की सहायता लें, एवं दूध चम्मच से देना चाहिए।

४. रबर की टोंटी का छिद्र छोटा हो।

५. शिशु को उपजिह्वा (Tongue Tie) रोग हो। इसके लिये शस्त्र-चिकित्सक से शल्य-कर्म कराकर इसे कटवा दें।

भोजन उचित रीति से न दिया जाय

प्रायः अनिश्चित समय पर दूध मिलने के कारण भार में वृद्धि नहीं होती। इसके लिये भोजन का समय नियमित करके भोजन के पश्चात् विश्राम देना चाहिए। यदि शिशु जल्दी-जल्दी दूध निगलता हो, तो माता को चाहिए कि चूचुक को दबा ले, जिससे दूध थोड़ा-थोड़ा निकले। इसके साथ दूध की शुद्धता पर भी ध्यान देना चाहिए *।

जब पर्याप्त दूध न दिया जाय

यह बात बालशिशु के मल को देखकर (जो सख्त एवं शुष्क होगा) तथा नैपकिन के रँगने से जानी जा सकती है। शिशु प्यास या भूख के कारण चिल्लाता है। अभीष्ट वस्तु के मिलने पर चुप हो जाता है (दूध का समय न हो, तो पानी ही देना चाहिए, दूध नहीं)।

ऐसा प्रायः केवल दूध पीनेवाले बच्चों में होता है। उन्हें भोजन के बीच में यथेष्ट उबला पानी देना चाहिए। पानी चम्मच से ही देना चाहिए, बोतल से नहीं, अन्यथा वह मात्रा से अधिक पी जायगा।

भोजन उचित न हो

इसके लिये भार की परीक्षा करनी आवश्यक है। भोजन के समय, राशि और मात्रा पर ध्यान अवश्य देना चाहिए। यदि उचित न हो, तो बदल देना चाहिए।

---

* देखिए माधव-निदान में शुद्ध दूध की पहचान।

शिशु के भोजन में कुछ ऐसे घटक हैं, जिनको हमें विशेष रूप से नियमित करना चाहिए। यथा वसा, शर्करा, कैजीन आदि।

भोजन में अतिवसा

यदि शिशु को भूख न लगती हो, मल में श्वेत रंग दिखाई देता हो, तो वसा की अधिकता का कारण है। गौ के दूध से निकाली गई क्रीम बच्चों को अनुकूल नहीं पड़ती। इसमें वसा कम होती है। इस अवस्था में वसा की मात्रा कम कर देनी चाहिए (साथ ही खाँड़ भी कम कर देनी चाहिए)। वसा की मात्रा मिल्क मिक्श्चर में सुगमता से घटा सकते हैं। लस्सी देना (वसा कम होने के कारण) उत्तम है। यदि इससे भी लाभ न हो, तो वसा सर्वथा बंद कर देनी चाहिए।

भोजन में वसा की न्यूनता

यदि भार थोड़ा या सर्वथा न बढ़े, एवं आमाशय-विकार के कोई लक्षण न हों, तो वसा की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। इसके लिये क्रीम, मक्खन और कॉडलिवर ऑयल देना चाहिए। प्रारंभ में ३० ग्रेन क्रीम या ५ बूँद कॉडलिवर ऑयल दूध के साथ दे। स्तनपायी शिशु को भोजन के बाद १० बूँद की मात्रा में ऑयल दे।

शर्करा की अधिकता

इसके कारण आमाशय-विक्षोभ, विदाह (Fermentation)

तथा वसा के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं। गन्ने की शर्करा में दुग्ध-शर्करा से कम विदाहता होती है। यदि मलबंध हटा दिया जाय, तो विदाह भी हट जाता है। शर्करा कम या सर्वथा बंद कर देनी चाहिए। इस अवस्था में Nestle's milk उत्तम है।

शर्करा की न्यूनता के कारण

शिशु का भार नहीं बढ़ता। इसके लिये उसके भोजन में शर्करा बढ़ा देनी चाहिए।

कैंजिन

रेनेट से कैंजिन पैरा-कैंजिन में बदल जाती है। उदुदग्किाम्ल की इस पर कोई क्रिया नहीं होती। इसका पचन आँतों में होता है। तीसरे दिन शिशु के आमाशय में अम्ल नहीं मिलता। इसकी अधिकता से शूल उत्पन्न हो जाता है। शिशु टाँगें मोड़ लेता है। ज़ोर से चिल्लाता है। मल श्वेत रंग का और छिछड़े-वाला आता है। वमन होता है। कोष्ठ कठोर होता है। कभी-कभी अतिसार हो जाता है। ऐसी अवस्था में कैंजिन की मात्रा घटा देनी चाहिए या इस रूप में देना चाहिए—

१. लस्सी और मिल्क मिक्श्चर के रूप में—लस्सी में १% से कम प्रोटीड होती है। इसलिये इससे कैंजिन घट जायगी। एक पाइंट दूध में ३० ग्रेन एक्सटेट और रेनेट डालकर गरम स्थान पर रखना चाहिए, जिससे दही बन जाय। फिर इसे चम्मच से तोड़कर वस्त्र से छान लें।

लस्सी १॥ औंस।

ग्रेवटी क्रीम * १ औंस।

१५%

सुधा-जल आधा औंस।

दुग्ध-शर्करा का घोल १॥ औंस।

सोडा साइट्रेट ३ ग्रेन।

२. जमा दूध—ग़रीब माताएँ उपर्युक्त मिश्रण उत्तमता से नहीं बना सकतीं। अतः पेटेंट फ़ूड (जैसे Nestle's milk) १ और १० पानी में देना चाहिए। इसमें वसा की न्यूनता होती है, अतः कॉडलिवर ऑयल दे सकते हैं।

३. पैप्टोनाइज्ड मिल्क—यदि प्रथम उपाय निष्फल हो जाय, तो पैप्टोनाइज्ड दूध देना चाहिए। इसे बनाने के लिये १० औंस दूध में ५ ग्रेन सोडा बाइ कार्ब और Fairchild's Powder डालकर हिला देते हैं। फिर ११० फ़ैरनहाइट की उष्णिमा पर २० मिनट तक रखते हैं। आग से धीरे-धीरे गरम करते हैं, जिससे यह उबल जाता है। फिर ठंडा होने देते हैं। इसको १, २ या ३ के अनुपात में पानी से हलका करके इसमें क्रीम या शर्करा डालकर देते हैं। ऐसे पाले गए बच्चों की पाचन-शक्ति बढ़ जाती है। धी-धीरे पाउडर की मात्रा घटाते हुए क्रीम और शुगर की मात्रा बढ़ाते जाना चाहिए। अंत

---

* ताज़े निकाले हुए दूध को १२ घंटे रखने पर जो मलाई ऊपर जमती है, उसे कहते हैं।

में प्रथम मिल्क मिक्श्चर या दूध के ऊपर ले आना चाहिए। पैपसीन भी उत्तम है।

४. पेटेंट भोजन—जो शिशु दूध नहीं पचा सकते, उनको एलनबरी नंबर एक देना चाहिए। यह सूखा चूर्ण है, जो पानी के साथ दिया जाता है। जब तक गंध बिस्कुट-जैसी न हो, इसे नहीं देना चाहिए। मैलिंस फूड द्रव होता है। ये भोजन सामयिक प्रयोग के योग्य हैं। दूध से उत्तम नहीं हैं।

५. सोडा साइट्रेट—सब भोजनों में उत्तमता से मिला सकते हैं। इससे नरम दही बनता है, जो जल्दी पच जाता है। मात्रा १ औंस में एक ग्रेन है।

अन्य आमाशयिक विकार

शिशु को अपने नवीन भोजन का अभ्यास करने में पर्याप्त समय लग जाता है। अतः आवश्यक है कि इसकी प्रतीक्षा की जाय। यदि शिशु को लाभ न हो, तो धात्री का प्रबंध उत्तम है।

दूध के कारण शिशु में शूल, वमन, मलबंध और अतिसार हो जाते हैं। इन सबमें मुख्य चिकित्सा, कारण का हटाना, आवश्यक है। विशेष चिकित्सा के लिये—

शूल में—कोष्ठ पर फ़लालैन की पट्टी बाँध देनी चाहिए। शिशु को गरम रखना चाहिए। इसका कारण शीत होता है, जो टाँगों के रास्ते से कोष्ठ तक आ जाता है। शिशु को गरम पानी दें। मलबंध के लिये ग्रे पाउडर का उपयोग सोडा

बाइ कार्ब के साथ करना चाहिए, अथवा एरंड-तैल देना चाहिए।

वमन—भोजन की मात्रा कम कर देनी चाहिए। वसा और शर्करा को भी घटाने से वमन रुक जाता है। इसके लिये सुधा-जल, सर्जक्षार देना चाहिए। यदि इससे सफलता न हो, तो आमाशय को नं० १० के कैथेटर (रबर के) से धो देना चाहिए। १ मास से ६ मास तक के लिये एक औंस पानी पर्याप्त है।

अतिसार—भोजन की मात्रा कम करने से, एरंड-तैल देने से रुक जाता है। दस्तों के कारण नितंब लाल हो जाते हैं। हरे रंग के दस्तों का कारण स्तनों या बोतल की अस्वच्छता प्रायः होती है। इसके लिये एरंड-तैल, श्वेत चीनी या कैथेटर से एनीमा दे देना चाहिए। पानी का डूश २ फ़ीट से अधिक नहीं पकड़ना चाहिए। विस्मथ सैलिसीलेट का उपयोग भी करना चाहिए। अफ़ीम का उपयोग अति सावधानी से करें। यथा-संभव बचना ही उत्तम है।

भोजन थोड़ा-थोड़ा करके देना आरंभ करें। ग्रेप वाटर या सुधा-जल का उपयोग दूध के साथ या पृथक् रूप में करना चाहिए। चार घंटे के अंतर से पानी दें। खुली वायु में रखते हुए सर्दी से बचाना चाहिए।

मलबंध—प्रायः स्तनपायी शिशुओं में होता है। इसके लिये गरम पानी, कॉडलिवर ऑयल (१० बूँद) देना चाहिए।

गुदा में साबुन की वर्ति या एनीमा तथा कोष्ठ पर एरंड-तैल की मालिश। साबुन के पानी में शिशु को बैठाना चाहिए। अधिक मलबंध की अवस्था में लैसरीन सरींज का उपयोग करें।

सर्वसर (Thrush)—इसका कारण स्तनों और बोतल की अस्वच्छता है। शिशु के मुख की अशुद्धता इस रोग को उत्पन्न कर देती है। ओष्ठ, गाल पर श्वेत निशान पड़ जाते हैं। मुख सूख जाता है। इसके लिये मुख और स्तन को बोरिक लोशन से धो देना चाहिए। सुहागे को शहद के साथ या कास्टिक लोशन उपयोग करना चाहिए।

लाल नितंब—इसके लिये नितंब का विशेष स्वच्छ रखना चाहिए। रूमाल को खराब होते ही बदल देना चाहिए। ठंडे पानी से नितंब धोने चाहिए। मैथिलीएटेड स्पिरिट में मिलाकर पिक्रीक एसिड लगावें, या प्रतिसारण चूर्ण छिड़क देना चाहिए।

कार्श्य—ऐसे शिशुओं का भार घटता जाता है। भोजन में प्रायः Antibodies चले जाते हैं। इस रोग का प्रारंभ उदर-शूल एवं आमाशय-विकारों से होता है। इस प्रकार के बच्चों को ट्यूब की सहायता से दूध देना चाहिए। सर्दी से विशेष बचाना चाहिए। नमक के पानी से स्नान, मालिश (विशेषतः क्षीरबाला घृत या चंदनादि तेल या कॉडलिवर ऑयल की), वायु-परिवर्तन भी सहायक। कभी-

कभी आमाशय के विकार तथा पैत्रिक उपदंश, यक्ष्मा भी कारण हो जाते हैं।

इस प्रकार की अवस्था में गर्भिणी माता का दूध किसी भी प्रकार शिशु को नहीं देना चाहिए।

चौथा प्रकरण

शिशु के उत्पत्तिकालीन रोग

जिस समय प्रसूति लंबी हो जाती है, अथवा अन्य किसी अप्राकृतिक रूप से प्रसव हो, या कराया जाय, तो कई रोग शिशु में हो जाते हैं। बहुधा जन्म से ही कई रोग (यथा अपूर्ण गुदा, कामला आदि) होते हैं।

दम घुटना

इस अवस्था में शिशु का हृदय गति कर रहा होता है, परंतु श्वास नहीं आती। इस समय यदि विशेष सहायता न मिले, तो शिशु मर जाता है। गर्भावस्था में शिशु में ओषजन कमल से नाल द्वारा आता है। यदि इसमें किसी प्रकार की बाधा आ जाय, तो शिशु का दम घुटने लगता है। इसका निर्णय शिशु का हृच्छब्द कर देता है।

कारण—

(१) जिनसे माता के रक्त में बाधा आ जाती है।

(क) कमल का समय से पूर्व मुक्त होना (सहसा रक्त-स्राव) होता है। इसे कमल-मोचन कहते हैं।

(ख) गर्भाशय का वेग से संकुचित होना, जिससे कमल का रक्त-प्रवाह सर्वथा बंद हो जाता है।

(२) जिनसे भ्रूण के रक्त-प्रवाह में बाधा आती है।

(क) नाल पर दबाव—यथा नितंबोदय में, गले या अन्य भाग में नाल के लिपट या फँस जाने से, नाल में गाँठ पड़ जाने से।

अन्य कारण—

(१) श्वास का प्रथम ही आरंभ होना—जैसा नितंबोदय में टाँगें बाहर आ जाती हैं, और मुख अंदर ही रहता है, जिससे शिशु श्लेष्मा या गर्भोदक (Liq. Amnoia) पी लेता है।

(२) बृहद् आघात या भ्रूण के सिर का दब जाना—जैसा योनि-मार्ग के तंग होने से या शस्त्र-प्रयोग से मस्तिष्क के जीवन-केंद्र को हानि पहुँच जाती है।

यह रोग दो प्रकार का है—

१—नीला एसफीक्सिया (Asphyxia Blue)

२—श्वेत एसफीक्सिया (Asphyxia White)

लक्षण—इनमें दूसरे प्रकार का रोग भयानक है। जन्म लेते समय शिशु श्वेत, निर्बल, नीला हो जाता है। नाल में स्पंदन मंद होता है, अथवा उसका अभाव ही रहता है। प्रत्यावर्तन नष्ट होते या बने रहते हैं। हृदय की गति कठिनता से सुनाई देती है। शिशु श्वास के लिये कोई प्रयत्न नहीं करता, या

थोड़ा प्रयत्न करता है। हृदय की गति अवश्य देखनी चाहिए।

पहचान—यदि नाड़ी की गति १०० से कम है, तो भयानक अवस्था की सूचक है। इसलिये यथासंभव प्रसव शीघ्र कराना चाहिए। शिरावृय की अवस्था में गर्भोदक में म्युकानियम को देखना चाहिए। मृत्यु से पूर्व शिशु की श्वास चलने लगती है, अतः गर्भोदक पी लेता है। यदि गर्भाशय या योनि में कुछ भी वायु होगी, तो शिशु वायु की श्वास खींच लेगा, और चिल्ला पड़ेगा।

पूर्व-कथन—नीले एसफीक्सिया में श्वेत एसफीक्सिया से पूर्व-कथन कईगुना अच्छा है। परंतु यह सब चिकित्सा पर निर्भर है।

चिकित्सा—(१) श्वास लेने से पूर्व मुख और गला खूब साफ़ कर देना चाहिए। शिशु की प्रथम श्वास अंतःश्वास होती है। अतः यदि वह श्लेष्मा को निगल जाय, तो अवस्था अधिक भयानक हो जाती है। जिह्वा के पीछे कैथेटर (Carton's catheter) लगाकर श्लेष्मा चूस लेना चाहिए, और फूँक द्वारा बाहर करना चाहिए। प्रत्येक बार कैथेटर को रुई से साफ़ कर लेना चाहिए। कैथेटर के अभाव में उँगली पर रुई लपेटकर मुख साफ़ कर देना चाहिए। जहाँ तक हो, अधिक-से-अधिक श्लेष्मा बाहर निकालें। इसके पश्चात् श्वास चलाने के लिये ठंडा पानी डालना चाहिए। इससे शिशु चिल्लाना आरंभ कर देगा।

नितंब और पीठ पर हल्के-हल्के थप्पड़ लगाने चाहिए। नाल को स्पंदन बंद होने पर बाँधना चाहिए। कारण, शिशु को इससे आक्सिजन मिल रहा होता है।

(२) शिशु की नाल काटकर १०० फ़ारनाहिट ताप के गरम पानी में रखना चाहिए। ओठों और मसूड़ों पर शराब मलनी चाहिए। कृत्रिम श्वास और गरम स्नान क्रमशः परिवर्तन से देते रहें, जब तक हृदय की गति स्पष्ट न हो जाय। शिशु को गरम वस्त्रों में लपेटकर रखना चाहिए। यदि त्वचा गुलाबी हो, तो शीत पानी के छींटे देने चाहिए। हृदय मलने से बहुत-से रोगी बच गए।

(३) नाभिशिरा (Umblical vain) से Normal saline देना भी उत्तम है।

कृत्रिम श्वास —

(१) सीधी श्वास फूँकना—इसके द्वारा फुप्फुस में सीधी वायु फूँकी जाती है, जिससे वायु-कोश (Air vassicls) बल-पूर्वक खुल जाते हैं।

विधि—शिशु को मेज़ पर पीठ के बल लेटाकर, मुख पर बारीक़ लिनन या सूती वस्त्र रखकर एक हाथ आमाशय-प्रदेश (Epigastrium) पर रक्खें, और दूसरे से नाक बंद कर दें। फिर दो-तीन गहरी साँसें भरकर कार्बन डाइ ऑक्साइड को सर्वथा बाहर करके, शिशु के मुख पर मुख रखकर साँस खींचनी चाहिए। आमाशय में हाथ के दबाव के

कारण वायु नहीं जायगी। इससे आमाशय फटने से बच जायगा। नासिका बंद होने से नासिका में भी वायु न जायगी। उरःस्थल जब वायु से भर जायगा, तो आमाशय का हाथ बता देगा। फिर वक्षःस्थल को धीरे-धीरे दबाकर खाली कर देना चाहिए। इस प्रकार एक मिनट में १२ से १८ बार करना चाहिए। श्वास बहुत धीरे-धीरे लेनी चाहिए, अन्यथा वायु-कोश फट जायँगे।

/ (२) बीर्ड्स विधि (Byrds method)—शिशु को ऊपर की ओर मुख रखकर इस प्रकार पकड़ा जाता है, जिसमें एक हाथ नितंब पर रहे, और दूसरा कंधों के नीचे। शिशु को बारी-बारी से आकुंचन और प्रसारण की अवस्था में लाना चाहिए, इससे श्वास-प्रश्वास चल पड़ता है।

/ (३) स्क्लीज्स विधि (Schultze's method)—शिशु को अपने आगे इस प्रकार पकड़ा जाता है कि जिस ओर अपना मुख है, उसी ओर उसका मुख रहे। फिर अपने दोनो हाथों की तर्जनी और अंगुष्ठ शिशु की कक्ष में लगाते हुए सिर को अपनी अंतःप्रकोष्ठास्थि के बीच में कर लेना चाहिए। एवं कनिष्ठिका उँगली (दोनो हाथों की) सिर की पश्चादस्थि के ऊपर रखनी चाहिए, जिससे सिर स्थिर रहे। मध्यमा और अनामिका उँगली से शिशु की पीठ को सहारा देकर रखना चाहिए। अब टाँगें फैलाकर खड़ी हो जाओ, जिससे शिशु का शरीर बीच में सुगमता से झूल सके। यह अवस्था अंतःश्वास

की है। एक-दो हल्के-से झोंके देकर अपनी दृढ़ता से पकड़ने की परीक्षा कर लेनी चाहिए। जब निश्चय हो जाय, तो सामने की ओर एक ज़ोर से झोंका दे दो। इससे शिशु ऊपर चला आएगा। अब उसे अपने हाथों के बराबर आने पर रोक लो। फिर अपने हाथों को फैलाकर गति जारी रक्खो। इस अवस्था में शिशु का सिर नीचे होगा, और टाँगें ऊपर हो जायँगी। ये टाँगें मुड़कर छाती पर आ लगेंगी। यह अवस्था बहिःश्वास की है। टाँगें मुड़कर कोष्ठ पर आ जायँगी। इससे वक्षोदर-मध्यस्थ पेशी (Diaphragm) पर दबाव पड़ने से वह वक्षःस्थल में दब जायगी। यह अवस्था अंतःश्वास की होगी। इस प्रकार से श्लेष्मा वक्षःस्थल से बाहर आ जायगा। इसी समय बिना उँगलियों के बदले पशुकास्थियों को दबाना चाहिए।

शिशु को देर तक इस अवस्था में नहीं रखना चाहिए, नहीं तो वह अंतःश्वास ले लेगा। उसे फिर सबसे पूर्व की स्थिति में ले आना चाहिए। शिशु को ज़ोर से झोंका नहीं देना चाहिए। उसे अपने भार से ही अवस्था बदलने देनी चाहिए। साधारण झटका भी शिशु के मेरुदंड को हानि पहुँचा सकता है। इसे एक मिनट में २० से ३० बार करना चाहिए।

निम्न-लिखित अवस्थाओं में ऐसा नहीं करना चाहिए—

१—जब मस्तिष्क में रक्तस्राव हो। २—जब यकृत फट जाय। ३—अस्थिभंग हो। ४—सहसा शीत लगना।	ये ही इस स्थिति के उपद्रव भी हो सकते हैं। अतः सावधानी से करना चाहिए।

(४) जीभ को खींचना—अपनी दो उँगलियों से जीभ को बाहर खींचकर फिर छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार कई बार किया जाता है।

(५) छाती पर दबाव—अपने हाथों से शिशु की छाती को दबाकर वायु निकाल देनी चाहिए। फिर हाथों को हटाकर वायु भरने देनी चाहिए। इस प्रकार कई बार करना।

इसके अतिरिक्त सील वेस्टर विधि भी आठ-दस बार करनी चाहिए। मार्शल हॉल की विधि भी उत्तम है। इसमें धात्री शिशु को अपनी जंघाओं या मेज़ पर पार्श्व के बल लेटा देती है, और एक हाथ एवं टाँग पकड़कर उसको दबाती है। फिर पीठ के बल सीधा करके हाथ को सिर की ओर उँचाई पर तिरछा खींचती है। पाँव को स्थिर रखती है, और पार्श्व पर मोड़कर फिर दबाती है। इस प्रकार कई बार किया जाता है।

कपाल का अस्थिभंग

यह भंग यदि दबा हुआ हो, तो भयानक है। इसकी चिकित्सा के लिये—

(१) शिशु के सिर को अपने घुटनों में पकड़कर अस्थि-भंग के विरुद्ध अक्ष में सिर को दबाना चाहिए। इससे अस्थि बाहर आ जाती है। अभी तक यह परीक्षण मृत शिशु पर ही किया गया है।

(२) अस्थिभंग के मध्य में 'बुलेट फोर्सिप्स' के तीक्ष्ण

फलके से छेद करना चाहिए। फिर समकोण पर मोड़कर दबी अस्थि को स्थिर दशा में खींच लेना चाहिए। एक साल के शिशुओं में भी हो सकता है।

भंग और संधिभंग

कठिन प्रसूतियों में भुजाओं या अक्षकास्थि का भंग हो जाता है। नितंबोदय में प्रायः भुजा टूटती है। इसकी चिकित्सा के लिये भंग को ठीक स्थान पर बिठाकर पैरिस प्लास्टर के साथ स्थिर कर देना चाहिए। फिर छाती के साथ बाँध दें, जिससे हिले नहीं। टाँग और जंघा के भंग में कोष्ठ पर (Cephalic Haematoma) देनी चाहिए। मालिश आदि सावधानी से करनी चाहिए।

मुख की पेशियों का पक्षाघात

थोड़े दिनों में स्वयं हट जाता है। यदि न हटे, तो बिजली से चिकित्सा करनी चाहिए।

सिर में रक्त-संचय होना

इसमें रक्त सिर की अस्थियों की आवरण-कला के नीचे एकत्र हो जाता है। इसकी प्रतीति प्रसव के दूसरे या तीसरे दिन होती है। यह स्यूतियों तक नियमित रहता है। अतः इसका भेद कैपट सक्सीडेनम से सुगमता से किया जा सकता है। मस्तिष्क-शोथ से इसकी आकृति, स्थान भिन्न होता है। साथ ही उसका अंतर्गुहा से संबंध होता है यह स्वतंत्र होता है। इसका

कारण प्रसव के समय शिरा या धमनी का फटना होता है। ज्यों-ज्यों रक्त बढ़ता जाता है, यह कठोर होता जाता है। बीच का भाग पोला होता है, दब सकता है।

इसकी चिकित्सा के लिये प्रथम कोई आवश्यकता नहीं। रोग स्वयं शांत हो जाता है। यदि न हो, तो—

(१) सिर पर धीरे-धीरे दबाव देना आरंभ करें, जो हाथ तथा पट्टी की सहायता से हो सकता है।

(२) उष्ण परिषेक करना आरंभ करें।

(३) मृदु आयोडीन का लेप करें।

मस्तिष्क का रक्तस्राव

यह कठिन प्रसूति में होता है। प्रायः मृत्यु का कारण यही होता है। इसके लक्षण रक्तस्राव की मात्रा एवं स्थान पर निर्भर हैं। मृत्यु से पूर्व आक्षेप होने लगते हैं।

पैत्रिक विकार

यथा अर्धजिह्वा (Cleft Palate), ओष्ठदाली (Harelip) के लिये शल्य-कर्म कराना चाहिए। अर्धजिह्वा में कोकीन-सोल्युशन लगाकर हाईपोग्लोजल नर्व तथा धमनी को बचाते हुए टंगटाई सीज़र से काट देना चाहिए।

मैनिन्गोसील, 'स्पाइन वाई फ़िडिया' तथा 'इन्सेफलेडिया' में आघात से बचाने के लिये तत्क्षण रुई से ढाँप देना चाहिए। शेष चिकित्सा के लिये शल्य-चिकित्सक की सहायता लेनी चाहिए।

क्लब फ़ीट

इसके लिये पाँव को तुरंत गति देनी चाहिए। धात्री को चाहिए कि वह पाँव को दिन में कई बार खींचे।

निरुद्ध प्रकर्ष
(Phimosis)

बहुधा पुरुष-शिशु के शिश्न का अग्र चर्म बहुत लंबा होता है, और छिद्र बहुत बारीक। ऐसी अवस्था में धात्री को चाहिए कि वह दिन में दो बार शनैः-शनैः चमड़े को पीछे हटाती जाय। यदि इससे ठीक न हो, तो शल्य-कर्म कराना चाहिए। प्रायः इसका कारण शिश्न का मैल भी होता है, जिससे त्वचा चिपट-कर मूत्र-मार्ग को दबा देती है। ऐसी अवस्था में अग्रत्वचा को साइम्स फ़ोर्सिप्स (Symes Forceps) से फैलाकर मणि और अग्रत्वचा पर लगे चिकने मैल को निकाल देना चाहिए। यदि १० दिन तक ठीक न हो, तो शल्य-कर्म कराना चाहिए। प्रथम तीन सप्ताह में सुगमता से हो सकता है। उस समय संज्ञा-लोप की आवश्यकता नहीं होती, और न सीने की।

विधि—शिशु की संज्ञा लोप करने के लिये क्लोरोफ़ार्म १ भाग और ईथर २ भाग मिलाकर प्रयोग करें। अथवा 'ईथाइल क्लोराइड के वाष्पों से स्थान को संज्ञा-शून्य कर लेना चाहिए। फिर शिशु को लेटाकर एक अँगोछे में छेद करके उसके बीच से शिश्न बाहर निकाल लें। अग्रचर्म को आगे की ओर खींच-कर तेज़ क़ैंची से काट देना चाहिए। त्वचा अधिक न खिंचे,

अतः पीछे (त्वचा और श्लेष्मकला की संधि पर) दो संदंश लगा देने चाहिए। फिर क्लैंप का साफ़ कर देना चाहिए। त्वचा का उतना ही भाग काटना चाहिए, जितना क्लैंप के आगे आता हो। फिर एक एषणी को मणि और श्लेष्मकला के मध्य से गुज़ारकर श्लेष्मकला को काट देना चाहिए। फिर श्लेष्मकला मोड़कर मणि पर लगे जमाव को पूर्ण साफ़ कर देना चाहिए। फिर कैट गट या रेशम के द्वारा त्वचा और श्लेष्मकला को रक्त-स्राव के स्थानों से सी देना चाहिए। फिर आयडोफ़ार्म गोज या आयडोफ़ार्म एमलसन लगा देना चाहिए। पट्टी तीसरे दिन खोलनी चाहिए *।

नाभिज आंत्र-वृद्धि

(Umblical Hernia)

आंत्र-वृद्धि प्रायः निरुद्ध प्रकर्ष क साथ मिलती है। इसमें आंत्र का एक भाग बाहर आ जाता है। इसके लिये एक पेनी या रुपया पतले रूमाल में बाँधकर छिद्र पर बाँध देना चाहिए। यदि मूत्र-प्रवाह में बल-प्रयोग करना पड़े, तो उसकी चिकित्सा करें।

प्रायः शिशु बृहदांत्र की वृद्धि के साथ उत्पन्न होते हैं।

* सुन्नत करना—मुसलमानों और यहूदियों में यह धर्म का अंग है। उत्तेजना या रोगों से बचने के लिये प्रथम इसका कराना उत्तम माना जाता था। परंतु डॉक्टर मैकफीडन एम्० डी० का विचार है कि इसके करने से अनुचित उत्तेजना अधिक होती है। उत्तम यही है कि इसको साफ़ रक्खा जाय। इसके लिये प्राचीन हिंदू-शास्त्र में मूत्र-त्याग के लिये जाते समय पानी ले जाना आवश्यक था।

इसमें आँतें एक पतली थैली में से दिखाई देती हैं। यह थैली थोड़े ही घंटे रहती है। अतः शस्त्र-कर्म भी शीघ्र ही कराना पड़ता है। इसमें आँतें थैली के साथ जुड़ी होती हैं। इनको अलग करने की अपेक्षा छोड़ देना ही उत्तम है। आंत्र-वृद्धि में पीछे हटाते हुए स्यूति क्रमशः लगाते जाना चाहिए *।

अपूर्ण गुदा

बहुधा शिशु में गुदा का स्थान होता ही नहीं, या गुदा के स्थान पर पतली झिल्ली-सी होती है। यदि पतली झिल्ली हो, तो उसे काट देना चाहिए। यदि कोई स्थान न हो, तो एक चाकू से सीधा (Vertical) छेदन मध्य-रेखा में कर देना चाहिए। यदि आँतें नंगी न हों, तो और गहरा छेदन करें। मूत्राशय को बचाए रखना चाहिए। जितना संभव हो, उतना ही त्रिक के पास छेदन करना चाहिए। आँतों को देखने पर भेदन सावधानी से करें, एवं आँतों को बाहर न खींचें। उँगली या बूजी (Bougie) प्रतिदिन डालते रहें। रक्त-स्राव का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

नाभि

शिशु प्रायः बड़ी नाभि के साथ उत्पन्न होते हैं। इसकी

---

* आंत्र-वृद्धि की चिकित्सा के लिये कर्ण-वेध आवश्यक है—

शंखोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम् ;
व्यत्यासाद्वा शिरां विध्येदांत्रवृद्धिनिवृत्तये।

विस्तार के लिये देखिए सुश्रुत कर्ण-वेध-संस्कार।

वृद्धि होने पर या तो चाकू से छेदन करना चाहिए, या बिजली से जला देना चाहिए।

स्तन्य शोथ

कौलस्ट्रीयम के छाती में एकत्र होने से दोनों लिंगों में शोथ हो जाता है। इसकी चिकित्सा की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। प्रायः चिकित्सा करने से रोग बढ़ जाता है। स्तनों को रुई की गद्दी से ढाँप देना चाहिए। विद्रधि बनने पर उसकी चिकित्सा करें।

मुख-शोथ

त्वचा पर गुलाबी छाल के समान हो जाता है। इसका कारण अधिक गरमी या अजीर्ण होता है। प्रायः माता के स्तनों पर सोनेवाले शिशुओं में होता है। इसके लिये शिशु को शीत स्थान पर रखना चाहिए। उसकी पाचन-शक्ति ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रतिसारण चूर्ण छिड़कना चाहिए।

कामला

यह दो प्रकार का है—मृदु और तीव्र। मृदु कामला के कारण ये हैं—

१. यकृत की प्रणालियों में दबाव के घट जाने से। जो कमल के रक्त-संचार के कारण होता है, जिससे पित्त पित्त की शिकाओं से निकलकर (जिनमें दबाव बढ़ा होता है) रक्त में आ जाता है।

२. यदि 'डक्टस बिनोसिस' खुला रहे, तो यकृत का रक्त (जिसमें पित्त है) रक्त-संचार में मिल जाता है।

३. रक्ताणुओं के अधिक मात्रा में टूटने से। जो उत्पत्ति के कुछ दिनों बाद तक रहता है। प्रायः दो-तीन दिन तक रहता है।

लक्षण—कामला श्वेत रंग का मल, मूत्र में पित्त, होता है। यह स्वयं अच्छा हो जाता है। आवश्यकता हो, तो ग्लैसरीन से विरेचन देकर सोडियम फास्फेट २ से ३ ग्रेन की मात्रा में दिन में दो-तीन बार देना चाहिए। गरम पानी बार-बार पीने को देना उचित है।

तीव्र कामला के कारण—

१. पैत्रिक रूप से पित्त-प्रणाली का अवरोध या अभाव, यथा अश्मरी से।

२. उपदंश-जन्य पैत्रिक यकृत शोथ से।

३. संक्रांत विष (Septic Poisoning) से। यह घातक होता है।

नाभि-नाल से रक्त-स्राव

प्रसूति के १५ दिन पीछे नाल से रक्तस्राव—इसका कारण प्रायः विष होता है। इसका रोकना कठिन होता है। रुई की गद्दी बनाकर ज़ोर से बाँध देनी चाहिए। यदि इससे सफलता न हो, तो सुई को उबालकर उसके साथ दोनों भागों को रेशम के धागे या कैट गट से सी देना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आँतों में सुई न चली जाय। इस सीवन का

आकार अँगरेज़ी के आठ (8) की भाँति बनाना चाहिए। शिरा को पिन कर देना चाहिए, और नोक पर कार्क लगा देने चाहिए।

नाभि-नाल में संक्रमण

प्रायः सब अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए थोड़ी-सी असावधानी पूयोत्पादक जीवाणुओं के आक्रमण का कारण बन जाती है। इस संक्रमण के दो परिणाम हो जाते हैं—

१. नाभि के समीप उदरस्थ भित्ति में शोथ हो जाता है।

२. व्यापक विष हो जाता है। प्रायः ये दोनों इकट्ठे होते हैं। विष के सब लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं। शिशु बहुत रोगी हो जाता है। कामला, नाभि-नाल से रक्तस्राव, नाड़ी तेज़ हो जाती है। मृत्यु की संभावना अधिक रहती है।

इसके लिये प्रथम परिणाम में ही हम कुछ कर सकते हैं। इसकी चिकित्सा मांस-पेशी-शोथ के आधार पर करनी चाहिए। अर्थात् शीत या उष्ण प्रलेप, परिषेक, छेदन, उपनाह करना चाहिए। शिशु को माता से दूर रखना चाहिए, जिससे माता संक्रमण के विष से बच सके *।

---

* नाभिनाल—तस्य चेन्नाभिः पच्येत्—लोध्रमधूकप्रियंगुदारुहरिद्राकल्कसिद्धेन तैलेनाभ्यज्यादोषमेव तैलौषधीनां चूर्णेनावचूर्णयेदेष नाडीकल्पनविधिरुक्तः सम्यक्। (आत्रेय)

लोध, मुलहठी, प्रियंगु के फूल और दारुहल्दी से पकाए हुए तैल को नाभिपाक पर लगाना चाहिए।

रक्त-मिश्रित मल

उत्पत्ति के समय शिशु कुछ रक्त निगल लेता है। अथवा फटे हुए स्तनों से चूस लेता है, जो गुदा-मार्ग से बाहर हो जाता है। प्रायः शिशु इसको वमन द्वारा बाहर कर देता है।

गुहणी व्रण (Deuodenal Ulcer) और आंत्रबंध (Inter sucception) भी छोटी उमर के बच्चों में पाया गया है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी नाक या त्वचा से रक्तस्राव भी होता है। यह प्रायः घातक होता है।

इस रोग के लिये घोड़े का सीरम मुख द्वारा या हाई-परक्लोर (१० से २० c. c.) देने से लाभ देखा गया है। एडरनलीन क्लोराइड (१००० में १) को 'कैलसियम लैक्टेट' के साथ देने से भी लाभ देखा गया है। भोजन सर्वथा बंद कर देना चाहिए, या कम कर दें। पानी या बर्फ़ पीने को दें। फटे हुए स्तनों की परीक्षा करें।

आक्षेप

यह कोई स्वतंत्र रोग नहीं है। अपितु रोगों का उपद्रव या लक्षण होता है। इसके कारणों के तीन विभाग किए गए हैं—

१—मस्तिष्क के रोग—अंदर के रोग, मस्तिष्क की रक्त-वाहिनियों में दबाव का बढ़ना, रक्त स्राव आदि।

२—संपूर्ण शरीर के रोग—यथा मूत्र का रुक जाना, आँतों में गाँठ, कृमि, दाँतों का निकलना आदि*।

३—शरीर में उत्पन्न किसी भी विष के कारण।

इन सबमें सबसे मुख्य कारण अपचन या गाँठ का आँतों में रुक जाना होता है। मूत्र का न बनना और श्वास में बाधा भी इनका कारण बन जाती है।

लक्षण—आक्षेप के कारण चेहरे और आँख की स्नायु संकुचित हो जाती है। शरीर कठोर हो जाता है। मुट्ठियाँ बंद हो जाती हैं। थोड़ी-थोड़ी झाग भी आ जाती है। श्वास निर्बल और मंद हो जाती है। हृदय मंद हो जाता है। चेहरा पीला हो जाता है। ये आक्षेप बार-बार होते हैं।

चिकित्सा—शिशु को १०० डिग्री फ़ारनाहिट के गरम पानी में राई घोलकर स्नान कराना चाहिए। शिशु के सिर पर बर्फ़ में भीगा रूमाल या रबर की बोतल रखनी चाहिए। ताप अधिक हो, तो शीत पानी का एनीमा देना और शरीर पर स्पंज का व्यवहार करना चाहिए। आमाशय को शुद्ध करने के लिये Stomach Pump या वमन देना चाहिए। संभव हो, तो

---

* पृष्ठभङ्गे विडालानां बर्हिणां च शिखोद्गमे ;
दन्तोद्गमे च बालानां न हि किञ्चन्न दूयते।
दन्तोद्भवेषु रोगेषु न बालमतियन्त्रयेत् ;
स्वयमेवोपशाम्यन्ति जातु दन्तस्य ये गदाः।
(वाग्भट्ट)

एरंड-तैल दें, एवं गुदा में ग्लैसरीन की पिचकारी करनी चाहिए। कोई-कोई चिकित्सक इस अवस्था में क्लोरोफ़ार्म सुँघा-कर संज्ञापहरण करना अच्छा समझते हैं। तीव्र अवस्था में मॉर्फ़िया (अफ़ीम का सत) मुख द्वारा तथा हाइपोडरमिक सुई से देनी चाहिए।

मूत्राघात या मूत्रावरोध—प्रथम २४ घंटों में मूत्र नहीं आता। इसका कारण शिशु के शरीर पर लगे चिकने पदार्थ से मूत्र छिद्र का रुकना होता है। लड़कों में यह डाट चमड़े के नीचे और लड़कियों में ओष्ठों के मध्य में होती है। कई बार वृक्क या यूरेटर के रोगों से भी होता है।

मूत्र-छिद्र की परीक्षा करके चिकना पदार्थ पूर्ण रूप से साफ़ कर देना चाहिए। कुछ काल पश्चात् शिशु मूत्र न करे, तो पेड़ू पर शुष्क सेक अथवा शिशु को कुछ समय के लिये गरम पानी के टब में बिठा देना चाहिए। इस अवस्था में एक तोला ठंडा पानी पिलाने से मूत्र आ जाता है, जो मूत्र-छिद्र पर उँगली रखकर देखा जा सकता है। अन्यथा नं० १ के कैथेटर से पेशाब निकाल देना चाहिए। ढाक के फूल का सेक पेड़ू पर करना उत्तम है।

अक्षि-शोथ

नवजात शिशुओं की आँखों पर का शोथ आँख के अंदर भी आ जाता है। इसका मुख्य कारण विष का संक्रमण है, जो सिर के योनि-मार्ग से निकलते समय लग जाता है।

कई बार यह संक्रमण उत्पत्ति के बाद तीन या चार दिन हो जाता है। और, यदि छठे दिन हो, तो बहुत तीव्र नहीं होता। इस रोग से शिशु के अंधे होने का भय है। यदि चिकित्सा आरंभ में की जाय, तो पूर्वकथन उत्तम है।

इस रोग का कारण योनि-मार्ग का विष (विशेषतः औपसर्गिक मेह का) होता है। बहुधा किसी अन्य विष के द्वारा भी हो जाता है। यह संक्रमण प्रायः माता या धात्री की उँगलियों द्वारा या वस्त्र से शिशु में होता है।

लक्षण—लक्षण प्रकट होने के लिये दो-तीन दिन लग जाते हैं। पलकें सूज जाती हैं। उनसे पूय बहने लगती है। बहुधा दबाव इतना बढ़ जाता है कि पूय स्वयं बहने लगती है। अंत में पुतली में व्रण हो जाता है, जिसका परिणाम अंधापन है।

चिकित्सा—प्रसव के समय आँखों को बोरिक लोशन या मरकरी परक्लोराइड (१ में ५०००) से धोकर २० % आरगोल या ४ ग्रेनवाली सिल्वर नाइट्रेट की दो-दो बूँद प्रत्येक आँख में डाल देनी चाहिए। आरगोल उत्तम है। इससे चरचराहट नहीं होती। यदि कभी इस चिकित्सा से अकृतकार्यता हो, तो इसका अर्थ यह है कि औषध भले प्रकार आँख में नहीं पड़ी। इस चिकित्सा को और अधिक सफल बनाने के लिये प्रसव की दूसरी अवस्था में योनि को लायजोल या Cyllin के घोल से धो देना चाहिए।

दिन-भर में पाँच या छ बार आँखों को गरम पानी से भले प्रकार धोकर सिल्वर नाइट्रेट डाल देना चाहिए। आँख पर उँगली, वस्त्र आदि का विशेष ध्यान रखना चाहिए। यदि रोग एक आँख में हो, तो दूसरी आँख को पट्टी (जो Watch Glass के साथ स्टिकन प्लास्टर लगाने से बनाई जा सकती है) या सिल्वर नाइट्रेट के द्वारा बचाना चाहिए। या लिंट पर 'बोरेसिक' मलहम लगाकर, रुई रखकर पट्टी बाँध देनी चाहिए। पट्टी के स्थान पर 'कोलोडियम' में भीगा वस्त्र भी प्रयोग कर सकते हैं।

आँख को नाक से बाहर की ओर साफ़ करना चाहिए। भीतर और बाहर दोनों भागों की सफ़ाई आवश्यक है। यदि रोग बहुत बढ़ जाय, तो शीत परिषेक, अफ़ीम का सेक भी करके देखना चाहिए। पुतली में व्रण होने पर गरम परिषेक करना चाहिए।

नासिका-शोथ

उपदंश के कारण नाक में यह द्रव इकट्ठा हो जाता है। परंतु बहुधा मुख से नाक में दूध जाने अथवा माता की छाती पर दूध पीते हुए शिशु की नाक के रगड़ने से हो जाता है। अतः नाक को स्तन पर लगने से बचाना चाहिए। दूध बोतल से दिया जाय, जिससे नाक में न जाय। यदि नाक में प्रवाही द्रव हो जाय, तो धात्री को चाहिए कि रुई से साफ़ कर दे। यदि कारण उपदंश रोग हो, तो उसकी चिकित्सा करें।

आँत का फँसना (Interssusception)

यह मल-बंध के कारण प्रायः छठे मास में होता है। गुदा से रक्त और श्लेष्मा जाती है। दर्द के कारण शिशु चिल्लाता है। इसकी चिकित्सा शल्य-कर्म है ।

पाँचवाँ प्रकरण

शिशु के रोग और उनकी चिकित्सा

विषय को पृथक् करने के कारण

बच्चों की परीक्षा या चिकित्सा करना उसी प्रकार का है, जिस प्रकार विदेश में, जहाँ की भाषा से हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं, जाकर चिकित्सा करना। इसमें केवल शिशु के हाव-भावों से अनुमान या परीक्षा की जाती है, वहाँ इसमें व्यक्ति से पूछकर जाननेवाले लक्षणों का सर्वथा अभाव रहता है *। इसके अतिरिक्त परीक्षा में भी युवाओं से बहुत अंतर है। यथा—

१. साधारणतः हम निरीक्षण, स्पर्शन, टकोर तथा श्रवण,

---

* शिशोस्तीव्रामतीव्रां च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम् ;
स यं स्पृशेद्देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः।
तत्र विद्याद्रुजं व्याधेर्मूर्ध्नि चाक्षिनिमीलनात्।
हृदि जिह्वोष्ठदशनश्वासमुष्टिनिपीडनैः ;
कोष्ठे विबन्धवमथुः स्तनदंशान्त्रकूजनैः।
आध्मानपृष्ठनमनजठरोन्नमनैरपि ;
वस्तौ गुह्ये च विण्मूत्रसंत्रासादिभिरीक्षणैः।

इन चार उपायों से क्रमशः परीक्षा करते हैं। परंतु शिशु में टकोर को श्रवण के पीछे व्यवहार में लाते या छोड़ देते हैं, क्योंकि इसके भय से शिशु रोकर परीक्षा को कठिन बना सकता है।

२. शिशु का पेट (विशेषतः यकृत) साधारणतः बड़ा होता है, अतः भ्रम होने का भय रहता है। इसी प्रकार शिशु का सिर भी धड़ की अपेक्षा बड़ा होता है, जो स्वाभाविक है। पीछे अपने आप अनुपात में आ जाता है। वक्षःस्थल प्रथम गोल होता है, फिर अंडाकार हो जाता है।

३. शिशुओं में कई विशेष रोग होते हैं, जैसे अस्थिक्षय, अस्थि-निर्बलता आदि।

४. शिशुओं की रचना में कई परिवर्तन होते हैं, जैसे थाइमस-ग्रंथि की क्षीणता, फ़ौरामैन ओवेल एवं डक्टसविनोसिस का बंद होना और कंठ-ग्रंथि की वृद्धि।

५. दाँतों की उत्पत्ति के रोग।

६. शिशुओं में पूर्व-विवर और पश्चात्-विवर का वही महत्त्व है, जो युवाओं में नाड़ी का।

७. शिशुओं के रोगों में भार का भी विशेष महत्त्व होता है।

इन सब कारणों से यह विषय चिकित्सा का होता हुआ भी पृथक् कर लिया गया है। रोगों के कारण वे ही हैं, जो युवाओं में हैं। अतः चिकित्सा भी ६६% वही है, जो युवाओं में व्यवहार की जाती है। जैसे मलेरिया के लिये कुनैन। परंतु

यहाँ हम दवा (कुनैन) को मिक्श्चर के रूप में नहीं दे सकते। कारण, कड़ुई होने से इसका पीना कठिन है। अतः इसे मीठी कुनैन के रूप में देना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त कई रोग युवाओं की अपेक्षा शिशुओं को अधिक होते हैं, जैसे डिफ्थीरिया, स्कारलैट आदि।

शिशु की चिकित्सा की सफलता रोग के वास्तविक कारण का पता लगाने पर निर्भर है। उदाहरणार्थ—यदि एक माता का दूध शिशु के लिये भारी है, थोड़ा है, अथवा अन्य कोई राग हो, या माता को उपदंश है, तो कारण का पता लगाकर चिकित्सा में सफलता होने की आशा है। केवल शिशु से कारण का वास्तविक रूप नहीं जाँचा जा सकता।

जो रोग युवाओं में होते हैं, वे ही शिशुओं में। और, कारण, लक्षण तथा चिकित्सा भी एक ही है*। यहाँ केवल आवश्यक परीक्षा और रोगों का वर्णन करना ही मैं आवश्यक समझता हूँ।

परीक्षा-विधि

शिशु की चिकित्सा में धैर्य और प्रसन्न-मुख की बड़ी आवश्यकता है। इतिहास के लंबे होने से घबरा या उकता जाना

---

* यथादोषं यथारोगं यथोद्रेकं यथाशयम्;
विभज्य देशकालादींस्तत्र योज्यं भिषग्जितम्।
त एव दोषा दूष्याश्च ज्वराद्यः व्याधयश्च तत्;
अतस्तदेव भैषज्यं मात्रा तस्याः कनीयसी।

रोगों के सामने अपनी निर्बलता या अपने प्रति अविश्वास पैदा करता है।

रोग का इतिहास जानने के लिये माता या धात्री से पूछना आवश्यक है। प्रथम तो शिशु स्वयं बता नहीं सकता, या ऐसा बताएगा, जिसकी आपके सामने कोई क़ीमत न होगी। इतिवृत्त में धात्री या माता इधर-उधर की ऐसी बातें भी बहुत कहेंगी, जिनका रोग से कुछ भी संबंध न होगा। परंतु चूँकि साधारण मनुष्य रोग के परिवर्तनों को नहीं समझ सकता, अतः चिकित्सक को उसमें से अपने काम की बातें चुन लेनी चाहिए। माता या धात्री का इतिहास सुनते हुए शिशु में उपस्थित लक्षणों की ओर ध्यान रखना चाहिए। शिशु को पीठ के बल लेटा देना चाहिए।

इतिवृत्त के पश्चात् भोजन एवं पैत्रिक रोगों के विषय में सब आवश्यक बातें जान लेना चाहिए, क्योंकि बहुत-से रोगों का संबंध इन्हीं से होता है। इसके पश्चात् गृह-इतिहास भी जानना आवश्यक है। इन सब बातों से चिकित्सा का मार्ग साफ़ हो जाता है। यह ठीक है कि इसमें समय पर्याप्त लगता है, परंतु जितना समय आप इसमें ख़र्च करेंगे, उतना ही मार्ग खुल जायगा। कारण का पता लगने पर भी चिकित्सा की सफलता हो जायगी।

इसके पश्चात् शारीरिक परीक्षा करनी चाहिए। इसमें बड़ी सभ्यता तथा कोमलता की आवश्यकता है। ये दोनो गुण किसी

में पढ़ने या सुनने से नहीं आते, अपितु कइयों में ये स्वभाव से होते हैं, और कइयों में अभ्यास से।

निरीक्षण

इतिवृत्त के लंबे होने से तुमको एक यह भी लाभ है कि तुम शिशु से अपने को परिचित कर सकते हो। यदि शिशु खिलौने से खेल रहा है, तो तुम भी उसके साथ खेलने लग जाओ। उसे चुटकी आदि से शांत करने का प्रयत्न करते रहो। शिशु शांत रहे, इसके लिये उसके मुख की ओर एक दृष्टि से कभी नहीं देखना चाहिए।

निरीक्षण का प्रारंभ शिशु के हाव-भाव से करना चाहिए। शिशुओं में मुख्य रोग कोष्ठ के होते हैं, फिर श्वास-प्रणाली के और फिर मस्तिष्क के।

शिशु का मुख स्वच्छ दर्पण के समान है, अतः बीमारी के लक्षण उसमें स्पष्ट दिखाई देते हैं। शिशु में कोई ऐसी बात तो नहीं, जो स्वाभाविक है, परंतु माता उसे रोग समझती है। जैसे यकृत और सिर का बड़ा होना आदि। कोई अस्वाभाविक लक्षण तो नहीं है। तदनंतर श्वास, उसकी गति आदि देखना चाहिए। स्कर्वी तथा अस्थि-निर्बलता की परीक्षा करनी चाहिए। रिकेट के लिये पैरास्टर्नल लाइन पर ग्रंथियाँ देखनी चाहिए। शरीर पर कोई कोठ (दाने) तो नहीं है, जो प्रायः कई रोगों में होते हैं।

स्पर्शन

स्पर्शन से पूर्व हाथों को आग पर या रगड़कर गरम कर लेना चाहिए। सबसे पूर्व सिर में पूर्व-विवर देखना आवश्यक है। वह खुला या बंद, दबा या सूजा तो नहीं है। इसकी क़ीमत शिशुओं में नाड़ी के बराबर है। विवर का दबा होना नाड़ी की मंदता का सूचक है। अस्थियों में मृदुता तो नहीं है; जो रिकेट या उपदंश के रोगी बच्चों में होती है। अस्थियाँ उभरी तो नहीं हैं। कोष्ठ की त्वचा ठंडी, गरम, रूक्ष या स्निग्ध तो नहीं है। पसलियाँ झुकी हुई तो नहीं हैं, जैसे रिकेट में होता है। यकृत और प्लीहा की परीक्षा में, स्वस्थावस्था में, प्लीहा नहीं छुई जाती। यकृत थोड़ा बड़ा होता है। फिर शाखाओं को देखना चाहिए कि वे कठोर ता नहीं हैं।

टकोर

भारी टकोर की अपेक्षा मृदु टकोर उत्तम है। इससे रोग का ज्ञान भले प्रकार हो जाता है। पाँच उँगलियाँ प्रयुक्त करने के स्थान में प्रथम तीन का उपयोग ही उत्तम है। उरोऽस्थि के ऊपर के भाग पर मंद ध्वनि होगी, जिसका कारण थाइमस-ग्रंथि की अतिवृद्धि है।

श्रवण

चूँकि शिशु टकोर से घबरा जाता है, अतः कोई चिकित्सक टकोर को छोड़ देते या पीछे करते हैं। इस परीक्षा में फुप्फुस पूरे फैल जाने आवश्यक हैं, अतः शिशु को बैठा देना चाहिए।

श्रवण पीठ पर किया जाय, तो छाती से अच्छा रहता है। कारण, फुप्फुस का बहुत भाग पीछे की ओर है। शिशु माता या धात्री के कंधों पर आराम से चिपट सकता है। इस परीक्षा में स्टैथस्कोप न बरतकर कान का उपयोग करना ही उत्तम है। यदि शिशु मैला हो, तो एक पतला रूमाल रक्खा जा सकता है। शिशु का रोना फुप्फुसों को अधिक फैला देता है, जो चिकित्सक का उद्देश्य होता है। यह वही प्रक्रिया है, जो युवा व्यक्ति के गहरी साँस लेने में होती है।

साधारणतः युवा व्यक्ति जब श्वास लेता है, तब प्रथम अंतः-श्वास, फिर प्रश्वास, उसके बाद थोड़ी देर के लिये ठहर जाता है। परंतु शिशु में श्वास, फिर प्रश्वास—थोड़ा-सा होकर श्वास हो जायगा, और फिर आराम करेगा। इससे क्या लाभ है, यह नहीं कहा जा सकता।

परीक्षा के अन्य साधन

वातिक संस्थान—यह स्वतंत्र मांसपेशियों को देखने से जाना जा सकता है। उनमें संकोच-विकास की अवस्था देखनी चाहिए। परंतु यह कई बार दर्द के कारण भी हो जाता है। सैंसिरी-नाड़ियों का कार्य छोटे बच्चों में प्रायः कम होता है।

नी-जर्क—शिशुओं में बड़ी सुगमता से होता है। शिशु के तलुए को हाथ में पकड़कर हल्का-सा प्रहार करना चाहिए। दूसरा

हाथ जान्वस्थि कंडरा पर रखना चाहिए। शिशु में त्वचा के साधारण प्रत्यावर्त्तन रहते हैं।

आँख और कान—साधारणतः देखे जाते हैं। कान को पीछे और नीचे की ओर खींचना चाहिए।

गला और जिह्वा—इसकी परीक्षा अति आवश्यक है। मुँह खोलने के लिये या तो नाक बंद करनी चाहिए, या शिशु का निचला ओष्ठ खींचकर निचले कर्त्तक दाँतों पर चढ़ाकर नीचे की ओर ढकेल देना चाहिए। इस प्रकार ओष्ठ के खुलने से मुख खुल जायगा।

भार—मेरी सम्मति में सब अवस्थाओं में यह आवश्यक नहीं। परंतु इसे परीक्षा में छोड़ देना भी भूल है। कई रोगों में, विशेषतः भोजन-संबंधी रोगों या मैरेसमस-यक्ष्मा में यही उत्तम साधन है। उत्पत्ति के समय भार ७ पौंड, ४ मास के बाद १४ पौंड, १२ मास में २१ पौंड, ६ वर्ष में ४२ पौंड और १४ वर्ष के बाद ८४ पौंड हो जाता है।

सिर की परिधि—उत्पत्ति के समय साधारण अवस्था में १३ इंच होती है। ६ मास में १६″, एक वर्ष में १८″ और पाँच वर्ष तक केवल २″ इंच बढ़ती है।

दंतोद्गम—पहले दाँत छठे मास से आरंभ होते हैं, और ३ साल में समाप्त होते हैं। दूसरे छठे साल से आरंभ होते, और बारहवें साल समाप्त होते हैं। इस समय अतिसार आदि कई रोग हो जाते हैं, जिनकी चिकित्सा की कोई आवश्यकता नहीं

होती। यदि संभव हो, तो मृदु विरेचन दे देना चाहिए, और दाँतों को उँगली से मल देना चाहिए। कोई कार्क आदि वस्तु बाँधकर दाँतों में दे देनी चाहिए, जिससे शिशु उसे काटता रहे। इससे दाँत शीघ्र निकल आते हैं*।

पूर्व-विवर

१८ से २४ मास में स्वयं बंद हो जाता है। यदि बंद न हो, तो कोई अशुद्धि है।

अवस्था

३ से ४ मास में शिशु सिर को सीधा कर लेता है। ऐसा न करना मस्तिष्क की अपूर्णता का सूचक है। ६ से १२ मास में बैठना आरंभ करता है। १२ से १८ मास में चलने और दो साल में बोलने लगता है।

मल का रंग

प्रथम ८ सप्ताह में तीन-चार बार मल-त्याग करता है। इसकी क़ीमत अतिसार, अपचन, वसा की मात्रा, भोजन की राशि जानने में है। ८ मास से २ वर्ष का शिशु दो बार मल-त्याग करता है। मल भूरे रंग का कुछ गंधवाला होता है। दो वर्ष बाद मल कठोर और दुर्गंध-युक्त हो जाता है।

---

* दन्तोद्गमेषु रोगेषु न बालमतियंत्रयेत् ;
स्वयमेवोपशाम्यन्ति जातु दन्तस्य ये गदाः।

मूत्र

प्रथम २४ घंटों में ० से २ औंस

दूसरे ,, ,, १/३ से ३ ,,

३ से ६ दिन तक ३ से ८ ,,

१ सप्ताह से २ मास तक ५ से १३ औंस

२ मास से ६ मास तक ७ से १६ औंस

६ मास से २ वर्ष तक ८ से २० औंस

२ वर्ष से ५ वर्ष तक १६ से २६ औंस

५ वर्ष से ८ वर्ष तक २६ से ४० औंस

८ से १४ वर्ष तक ३२ से ४८ औंस

आवश्यक एवं संक्षिप्त चिकित्सा-सूत्र

उत्तेजना—इसके लिये ब्रांडी, कैंफ़र, स्पिरिट, अमोनिया, एरोमैटिक, ईथर कैंफ़र इन ऑयल या स्ट्रिकनीन का इंजेक्शन दिया जाता है।

गरमी के लिये गरम कंबल में लपेटना, रबर की गरम पानी से भरी बोतल आदि बग़ल या तलवों पर रखना।

वमन के लिये नमक का पानी, ज़िंक सल्फ़ेट या मदनफल की मात्रा देनी चाहिए।

विरेचन के लिये कैलोमल ग्रे-पाउडर, रेवतचीनी, रिहाईको, ब्लुपिल आदि देना चाहिए।

फ़ीवर मिक्श्चर—पोटाशियम एसिसेट, पोटाशियम साइट्रेट,

स्पिरिट ईथर नायट्रोसी, लायकर अमोनिया एसिटेट या साइट्रेट का मिलित मिक्श्चर।

सैडिटिव (शामक)—ब्रोमाइड्स (पोटाशियम या सोडियम) देना चाहिए।

आमाशयिक विकार

इनका मुख्य कारण भोजन को अधिक मात्रा में देना या भोजन के उपर्युक्त नियमों को तोड़ना है।

छोटे बच्चों में आमाशय-विकार के लक्षण स्थानिक और व्यापक, दोनों तरह के होते हैं। स्थानिक लक्षण तीन प्रकार के हैं—

१—उदर-शूल (Colic)

२—वमन (Vomiting)

३—अतिसार (Diarrhoea)

व्यापक लक्षण वे हैं, जिनसे शिशु में सर्वांग-निर्बलता आ जाती है।

(१) उदर-शूल—इसके कारण आँतों में अतिवेग से संकुचन आरंभ हो जाता है।

कारण—शिशु को खट्टी डकारें आती हैं, और मुख का स्वाद खट्टा रहता है। यह खटाई दूध में विदाह होने से उत्पन्न होती है। यह इस रोग का पहला कारण है, जिसके कारण लैकटिक-एसिड या अन्य अम्ल पैदा होकर आँतों में विक्षोभ उत्पन्न कर देते हैं। इसका परिणाम आँतों में संकुचन होता है। दूसरा कारण

आँतों में दही या कैज़ीन का न पचना है। तीसरा कारण आँतों में वायु की वृद्धि या वायु का प्रकोप होना है।

लक्षण—शूल का मुख्य लक्षण दर्द है। परंतु 'दर्द'-शब्द शिशु के लिये कुछ अधिक महत्त्व नहीं रखता। शिशु बिना विश्राम लिए निरंतर चिल्लाता है। ये दोनो लक्षण तुम्हारा ध्यान इस रोग की ओर खींच सकते है। परंतु इन लक्षणों के और भी कारण होते हैं, यथा कान का दर्द, जिसकी पहचान माता का यह कहना कि शिशु कान में बार-बार उँगली डालता है, करा देगा। दूसरा कारण दाँतों का निकलना है। दंतोद्गम और कर्णशूल प्रायः एक साथ होते हैं। तीसरा कारण वृक्क-शूल है। इस शूल का कारण प्रायः अश्मरी नहीं होती, परंतु शर्करा होती है*। चिल्लाने का अन्य कारण निरुद्ध-प्रकर्श है। इससे मूत्र-प्रवाहण में कठिनता होती है।

निरंतर चिल्लाने का कारण अस्थियों में स्पर्श-क्षमता का अभाव भी है। जैसा रिकेट या स्कर्वी प्रथमावस्था या अन्य पैत्रिक रोगों में होता है। शिशु को हाथ से स्पर्श करें, या स्नान करावें, तो शिशु ज़ोर से चिल्लाता है। अस्थियों की परीक्षा करने पर कारण स्पष्ट हो जाता है। अंतिम कारण मानसिक निर्बलता है।

---

* एता भवन्ति बालानां तेषामेव च भूयसा। (माधव)

परंतु इन सब कारणों में साधारण और मुख्य कारण उदर-शूल ही होता है।

कोष्ठ पर कठोरता होना उदर-शूल का भेद करा देता है। कोष्ठ पर हाथ रक्खोगे, तो तुमको बाधा अनुभव होगी, जो तुम्हारी शक्ति के विरुद्ध कार्य कर रही है। दूसरी मुख्य बात शिशु का चिल्लाने के साथ टाँगों को मरोड़ना या खींच लेना है। शिशु प्रायः पीठ के बल लेटेगा, परंतु स्थिर नहीं रहेगा। रोने-चिल्लाने से शिशु में आक्षेप भी आरंभ हो जाते हैं, जिससे स्पष्ट है कि विक्षोभ का कारण अपक्व भोजन है। इस प्रकार उदर-शूल का निश्चय होने पर चिकित्सा का प्रश्न उठता है।

चिकित्सा—सबसे प्रथम शिशु के पेट पर फ़लालैन या कोई गरम कपड़ा आदि डाल देना चाहिए। फिर गरम तेल (विशेषतः एरंड-तैल) की मालिश, गरम पानी का सेक (जिसमें तारपीन का तेल पड़ा हो), उपनाह तथा राई के गरम पानी से स्नान (तीव्र रोगियों को) कराना चाहिए। इस स्थानिक उपचार के अतिरिक्त गरम पानी का एनीमा (२ या ३ औंस गरम पानी, जिसमें साबुन हो) देना चाहिए। मुख द्वारा वातहर औषधियों (पिपरमेंट, सौंफ, अजवायन, हींग आदि) का प्रयोग भी करना चाहिए। कोई-कोई चिकित्सक १० बूँद की मात्रा 'स्पिरिट ईथर नाइट्रोसाई' भी व्यवहार करते हैं।

इसके पश्चात् आक्रमणों से बचाने के लिये चिकित्सा करनी

चाहिए। यह चिकित्सा स्तनपायी और बोतल पर पाले जानेवाले शिशुओं की भिन्न-भिन्न है।

स्तनपायी शिशुओं की अवस्था में दूध का अंतर बढ़ा देना चाहिए। अर्थात् २½ घंटे से ३ घंटा कर देना चाहिए। माताएँ शूल को कम करने के लिये स्तन पिलाती हैं, जिसकी गरमी से शूल कुछ मिनटों के लिये रुक जाता है, परंतु फिर उठता है। फिर स्तन दिए जाते हैं। इससे मात्रा अधिक बढ़ जाती है, और चक्कर बन जाता है। इसके अतिरिक्त कैजीन का अधिक होना या न पचना भी है। इसके लिये स्तन पिलाने से पूर्व 'सुधाजल' (फीका या मीठा डालकर) या दूध के बीच में सोडा-बाइ-कार्ब डालकर देना चाहिए। मलबंध हो, तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

बोतल से पाले जानेवाले बच्चों में दूध को अशुद्ध रूप से बनाकर देना या रबर की टोंटी का चिरकाल तक उपयोग करना भी इस रोग का कारण होता है। इसके अतिरिक्त भोजन-संबंधी उपर्युक्त कारण भी यहाँ घटते हैं। अतः कारण को हटा देना आवश्यक है। मिश्रण को सजक्षार (२½ ग्रेन) से क्षारीय रखना चाहिए। वातहर एवं एरोमैटिक ओषधियों का उपयोग कर सकते हैं। शिशुओं की ओषधियों को मीठा बनाने के लिये शरबत न प्रयोग करके ग्लैसरीन का प्रयोग करना चाहिए। कारण, शरबतों से विदाह बढ़ जाता है।

दर्द या शूल के समय शिशु को, उसके हाथ-पाँव को तथा

कोष्ठ को गरम रखना आवश्यक है। इसके लिये .फुलालैन, और मोजे उत्तम हैं। ध्यान रखना चाहिए कि .फुलालैन छाती पर से न खिसक जाय। यदि आवश्यक हो, तो पाँव पर गरम बोतलें रख देनी चाहिए। यदि इस सब चिकित्सा से सफलता न मिले, और शिशु का भार बढ़ रहा हो, तो अफ़ीम की मात्रा देनी चाहिए। अफ़ीम का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिए। कारण, इससे शिशु में इसकी आदत पड़ने की संभावना है। केवल अतिवेदना, जिससे शिशु तंग है, शांत करने के लिये ही देनी चाहिए।

(२) वमन—यह अजीर्ण का एक लक्षण है। यह दो प्रकार का है—तीव्र और चिरकालीन।

तीव्र वमन की परीक्षा सुगमता से हो सकती है। शिशु को वमन आरंभ हुए कुछ ही घंटे हुए होते हैं। जिह्वा श्वेत और श्वास में खट्टी गंध होती है, परंतु कई बार यह भयानक रोगों में लक्षण के रूप में होती है। ज्वरों में परीक्षा करके सबसे प्रथम शिशु को उपवास कराना चाहिए। यदि शिशु को गरम रक्खा जाय, और पीने को पानी यथेष्ट दें, तो उपवास २-३ दिन या उससे भी अधिक हो सकता है। उत्तम यह है कि गरम पानी दें। माता की संतुष्टि के लिये इसमें 'यवोदक' मिला सकते हैं। इसके अतिरिक्त आमाशय का प्रक्षालन करना भी उत्तम चिकित्सा है। दोनो प्रकार के वमनों और दोनो प्रकार से पाले जानेवाले शिशुओं में यह उपयोगी है। इसके

लिये एक रबर की नली, जिस पर पीक लगी हो, उत्तम है। कई बार नली का सिरा कैज़ीन से बंद हो जाता है। ऐसी अवस्था में मुख द्वारा कैज़ीन चूस लेनी चाहिए। आमाशय को धोने के लिये गरम पानी उत्तम है। यदि श्वास में खट्टी गंध हो, तो सजेक्षार (६० ग्रेन २० औंस में) से धो देना चाहिए। धोने के पश्चात् थोड़ा पानी (१ से १ १/२ औंस) आमाशय में छोड़ देना चाहिए। इससे शिशु को भूख न लगेगी, और यह अंतःउप-नाह का भी कार्य करेगा। पानी ऐसा गरम होना चाहिए, जो आमाशय तक पहुँचते-पहुँचते ठंडा हो जाय।

इसके अतिरिक्त कैलोमल १/५० से १/६ ग्रेन तक) को बिस्मथ सब-नाइट्रेट या सैलिसिलेट (१० ग्रेन की मात्रा में) के साथ या पृथक् देकर देखना चाहिए।

चिरकालीन वमन—यह भी आमाशयिक विक्षोभ के कारण ही होता है। परंतु कई बार इसका कारण आमाशय-बहिर्द्वार का अवरोध होता है। ऐसी अवस्था में वमन का प्रारंभ जन्म से ही होता है। इस प्रकार के वमन में भोजन की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। भोजन को नियमित करना, आमाशय का प्रक्षालन, बिस्मथ का उपयोग या उद्रहरिकाम्ल की दो-तीन बूँद कार्मिनेटिव मिक्श्चर के साथ देना चाहिए।

(३) अतिसार—इस रोग के कारण इँगलैंड में ८२,००० मौतें हुई हैं। इनमें से १७,००० मौतें एक ही वर्ष में हुई थीं। इस रोग के तीन कारण मुख्य हैं—

१. शिशु के आमाशय में स्वच्छीकरण-शक्ति की न्यूनता या आमाशय में उद्रहरिकाम्ल की मात्रा का कम होना है।

२. शिशु का भोजन चूँकि दूध ही है, अतः इसमें कृमि विशेष रूप से प्रभावशाली रहते हैं।

३. तीसरा कारण शिशु की सरदी है।

जीवाणु ग्रीष्म-ऋतु में अति प्रभावशाली हो जाते हैं। इन कारणों के अतिरिक्त चारो ओर को अशुद्ध, मैली परिस्थिति इस रोग को और भी भयानक बना देती है। अतः आवश्यक है कि शिशु को जहाँ इन परिस्थितियों से बचाया जाय, वहाँ दूध गरम करके (विशेषतः ग्रीष्म-ऋतु में) दें, और शिशु को सरदो से बचावें।

अतिसार तीव्र और चिरकालीन के भेद से दो प्रकार का है।

तीव्र अतिसार—साधारण, ज्वरातिसार तथा चिरकालीन भेद से तीन प्रकार का है। साधारण रूप में अतिसार के सिवा और कुछ नहीं होता। यदि इसके साथ ज्वर हो जाता है, तो दूसरा रूप हो जाता है। और, यदि पानी-ही-पानी आता है, तो यह तीसरे रूप का अतिसार है। पहला रूप दूसरे रूप में या तीसरे रूप में शीघ्र बदल सकता है।

लक्षण—रोग का प्रारंभ सहसा या धीरे-धीरे होता है। मल का रंग प्रथम पीला, फिर हरा तथा श्लेष्मा और रक्त-मिश्रित होगा। अंत में दुर्गंधि और पानी-पानी ही आएगा। मल में हरा रंग जीवाणुओं के कारण होता है। मल में दुर्गंधि होने

का कारण आँतो में विदाह (जो जलतरंग-गति के बढ़ने से होती है) है। छिछड़ों का आना भोजन की मात्रा की अधिकता है। एक और प्रकार का मल है, जिसमें शिशु के नितंब पर लाल फुंसियाँ होती हैं। इसका कारण मेरी सम्मति में वसा की अधिकता है। जिससे वसा के अम्ल और ब्युट्रिक एसिड अधिक बनते हैं। बृहदांत्र में शोथ के कारण मल में श्लेष्मा आती है (कभी-कभी यवोदक से भी आ जाती है)। मल में रक्त की उपस्थिति भी इसका पूर्ण निश्चय करा देती है।

व्यापक लक्षणों में आक्षेप होते हैं। यदि सर्वांग में आक्षेप हो, तो इनका कारण कोई जीवाणु-विष है। इससे क्षीणता, मूर्च्छा, आँखें डूबीं, पूर्व-विवर दबा, कनीनिका पर श्लेष्मा, त्वचा लाल हो जाती है। त्वचा में संकोच-विकास का अभाव भयानक रोग का साक्षी है। मूत्र में एल्ब्युमन का अभाव वृक्क रोग से भेद करा देता है। शिशु नीला, पीला हो जाता है, और अंत में आक्षेपों से मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—इस चिकित्सा में दो उद्देश्य रखने चाहिए—१. उपवास और २. संशोधन। शरीर में पदार्थ बाहर से न आवे, और जो विष अंदर है, वह शरीर से निकल जाय *।

---

* दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लंघनपाचनैः ;
येतु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरोद्भवाः। (आत्रेय)

उपवास—इस अवस्था में दूध देना जीवाणुओं की वृद्धि में सहायक है। संशोधन में प्रथम जीवाणुओं को निकालकर उनका विष बाहर निकाल देना चाहिए। उपवास में शिशु को गरम रखते हुए पीने को यथेष्ट पानी देना चाहिए। जब लक्षण घटने लगें, तब पतली लस्सी देना आरंभ करो। कैज़ीन कई दिन तक नहीं देनी चाहिए।

संशोधन—यदि वमन आता हो, तो आमाशय को धो देना चाहिए। तीव्र अतिसार में एनीमा भी दे देना चाहिए। एनीमा के लिये कवोष्ण लवणोदक सबसे उत्तम है। मूर्च्छा की अवस्था में नमक का पानी त्वचा के नीचे रुई से देना चाहिए। इससे वृक्क उत्तेजित होकर विष को शीघ्रता से बाहर कर देंगे।

अब सूक्ष्मांत्रों के संशोधन के लिये ओषधियों की सहायता लेनी आवश्यक होती है। आमाशय धोने के बाद एरंड-तैल या कैलोमल (1/2 gr.) देना चाहिए। त्वचा की संकोच-विकास की शक्ति के लिये शरीर पर गीला वस्त्र लपेटकर मूत्र लानेवाली औषध दे। मूर्च्छा के लिये राई के पानी से स्नान कराना चाहिए। पानी का ताप धीरे-धीरे बढ़ाकर ११०° F. कर देना चाहिए। इस समय मेरी सम्मति में कर्पूर का उपयोग (५ से १० बूँद) उत्तम है।

शिशु को पूर्ण स्वच्छ रखते हुए उसके स्वस्थ वृत्त का पूर्ण ध्यान रखना आवश्यक है। प्रतिदिन १५ डिग्री शतांश के पानी से स्नान देना चाहिए।

अतिसार में कृमि-नाशक ओषधियों की क़ीमत बहुत है। जैसे सैलोल। परंतु मेरी सम्मति में सबसे उत्तम कैलोमल ही है, जो आँतों को साफ़ कर देता है। मल में यदि खट्टी गध है, तो क्षारीय औषध (बिस्मथ कार्ब, पल्व क्रोटा आरोमेटिक) देना चाहिए। यदि मल में क्षारीयपन अधिक है, तो उद्रहरिकाम्ल देना चाहिए। यदि मल हरे रंग का और तीव्र अतिसार है, तो एरंड-तैल को बबूल के गोंद के साथ एमल्ज़न बनाकर दो-तीन दिन तक दें। इसके स्थान पर calomal और Dover's Powder भी व्यवहार कर सकते हैं। जब मल ठीक आने लगे, तो इसमें बिस्मथ बड़ी मात्रा (१० ग्रेन) में मिला देना चाहिए। यदि मल अब भी पानी-जैसा हो, तो संकोचक ओषधियाँ दें।

सिल्वर नाइट्रेट का एनीमा भी उत्तम प्रभाव रखता है।

अफ़ीम अति सावधानी से निम्न-लिखित अवस्थाओं में देनी चाहिए।

जब अफ़ीम नहीं देनी चाहिए—

१. जिह्वा मैली हो।

२. शिशु मूर्च्छावस्था में हो।

३. रोग का प्रारंभ हो, जिससे गति कम हो जायगी।

जब देनी चाहिए—

१. जिन बच्चों के मल बहुत आवे। बृहदांत्र रुग्ण हों।

२. जिह्वा साफ़ हो, और मल में दुर्गंधि हो।

३. जिनमें अतिसार निर्बलता-जन्य हो, अर्थात् भोजन के बाद ही मल आ जाय।

अफ़ीम को स्वतंत्र रूप में (Tr. opii की दो बूँद) देना चाहिए। इसकी मात्रा के बाद यदि शिशु सो जाय, तो उसे जगाना नहीं चाहिए।

चिरकालीन अतिसार—इसमें उपवास न कराके दही से शून्य पदार्थ देने चाहिए। सर्दी से बचाना चाहिए। मल के अनुसार उपर्युक्त चिकित्सा करनी चाहिए।

आंत्र-शोथ—इसका बद्धोदर से भेद करना चाहिए।

आंत्र-शोथ	आंत्रसम्मूर्च्छन
ज्वर होता है।	नहीं होता है।
मल में रक्त और श्लेष्मा होती है।	अभाव रहता है।
वमन प्रायः नहीं होता।	प्रायः होता है।
पित्त आता है। रूमाल रँगा जाता है।	अभाव रहता है।

चिकित्सा—अफ़ीम एरंड-तैल और बिस्मथ के साथ देना चाहिए।

सिल्वर नाइट्रेट के स्थान पर आरगोल या प्रोटारगोल का प्रयोग उत्तम है।

मलबंध—युवावस्था में जो मलबंध होता है, उसका बीज यहीं से बोया जाता है। अतः मेरा ध्यान इस रोग की ओर खिंचा है।

कइयों का विचार है कि यह रोग बोतल का दूध पीनेवालों

की अपेक्षा स्तनपायी शिशुओं में अधिक होता है। इसका कारण अभी तक स्पष्ट नहीं है। कइयों में मलबंध के साथ उदर-शूल भी रहता है। अतः बहुत-से चिकित्सक समझते हैं कि उदर-शूल हटाने से मलबंध भी हट जाता है। इसके अतिरिक्त मलबंध के कई अन्य भी कारण हैं। जैसे—

१—निःस्रावों या स्रावों का उचित रूप में न निकलना, यथा यकृत के पित्त का और क्लोम रस का अभाव या न्यूनता।

२—आँतों की भित्ति में शक्ति की न्यूनता। इसमें मांस-पेशी या नर्व-तंतु निर्बल होते हैं।

३—मानसिक निर्बलता के कारण मलबंध होना। विशेषतः कंठ-ग्रंथि के स्राव की कमी से *।

४—जल-तरंग-गति के नियामक केंद्र का मस्तिष्क में देर में उन्नत होना।

५—अन्य कारण—आंत्र-वृद्धि, गुदभ्रंश, बृहदांत्र का विस्तृत होना आदि।

---

* एक बच्चे को सात दिन में कठिनता से मल आता था। उसको सब प्रकार के लैक्जेटिव दिए गए, परंतु कुछ नहीं हुआ। अंत में कंठ-ग्रंथि का सत्त्व देने से रोग हट गया। इस शिशु को Creatism था। यह दक्षिण-आफ्रिका में उत्पन्न हुआ था।

(डिज़ीज़ ऑफ़् चिल्ड्रन)

चिकित्सा—भोजन तथा मल-त्याग की आदत को नियमित करें। समय पर मल-त्याग करें। इसके लिये एरंड-तैल देकर कैस्करा सैगरौड़ा और मुसब्बर का प्रयोग करना चाहिए। बोतल से दूध पीनेवाले शिशुओं को सोडा फ़ौस्फ़ेट (५ से १० ग्रेन) देना चाहिए। रेशा ख़तमी को गरम पानी में घोलकर भोजन के साथ देना भी उत्तम है। एक ग्रेन गंधक दूध के साथ देने से भी मल आ जाता है। स्तनपायी शिशुओं में मगनेशिया भी उत्तम है।

निम्न-लिखित बातों से बचना आवश्यक है—

१—मलबंध हटाने के लिये माता को विरेचक औषध नहीं देनी चाहिए।

२—सूक्ष्मांत्र को विना शोधन किए साबुन की वर्त्ति या एनीमा देने से आँतों में विक्षोभ होने का भय है। आँतों की निर्बलता के लिये (विशेषतः मांस-पेशी-जन्य में) कोष्ठ पर बड़ी आँतों के अनुसार मसाज या मालिश उत्तम है, जो एरंड-तैल से की जानी चाहिए।

मुसब्बर या कैस्करा यदि टिंचर के रूप में अन्य ओषधियों (यथा मांस-पेशियों पर, नर्व पर, स्रावों पर प्रभाव करने-वाली) के साथ मिलाकर दें, तो प्रभाव बहुत बढ़ जाता है। मुसब्बर की मरोड़े रोकने के लिये टिंचर बैलोडोना भी (१ बूँद) मिला देना चाहिए। इसके अतिरिक्त वात-हर ओषधियाँ (Syrup of Ginger २० बूँद) और

पिपरमेंट वाटर मिला देना चाहिए। तीव्र विरेचन के लिये उपर्युक्त मिश्रण में सनाय का शरबत मिला देना चाहिए।

मल यदि श्वेत हो, तो पोडोफ़ीलीन (Tincture के रूप में १ या २ बूँद) सबसे उत्तम है। मल की कठोरता के लिये गंधक सर्वोत्तम है, जो अवलेह के रूप में (दो ड्राम) दी जा सकती है।

पिछली आयु में मलबंध—इसका कारण शैशवावस्था का मलबंध ही होता है। मुख्य कारण भोजन की न्यूनता होती है, जिससे जल-तरंग गति मंद हो जाती है। प्रायः भोजन में सैल्युलोज की अधिकता से होता है। ऐसी अवस्था में अधिक भोजन खिलाने के कारण अंगों पर कार्य-भार बढ़ने से रोग घट जाता है।

बहुधा इसका कारण प्रत्यावर्तन ज्वर होता है। ऐसी अवस्था में तीव्र विरेचन देने से रोग हट जाता है।

लक्षण—शिरोवेदना, क्षुधाविकृत, नाड़ी-अपूर्ण, बेचैनी, वातिक लक्षण यथा चिड़चिड़ापन, निराशता और ग़ुस्सा, ये लक्षण शिशु में मिलते हैं।

मलबंध के कारण कृमि भी घर बना लेते हैं। कई रोगियों में मलबंध के हटने से आँतों के कृमि भी हट गए।

चिकित्सा—पूर्ण स्वस्थवृत्त का ध्यान रखते हुए उचित भोजन, व्यायाम, कोष्ठ पर मालिश (विशेषतः कोष्ठ पर स्पंज

कोष्ठ का व्यायाम) करें। इसके अतिरिक्त आँतों को शक्ति देनेवाली ओषधियाँ भी कुछ समय तक बरतनी चाहिए। इसमें कैस्करा, एलोज, सीरप सनाय उत्तम हैं।

बहुधा यकृत को उत्तेजना देनेवाली ओषधियों से कार्य में सफलता मिलती है। इनमें कैलोमल, ग्रे-पाउडर उत्तम हैं, जिनको सर्जक्षार या रेवतचीनी के साथ दिया जाता है।

गुदभ्रंश—मलबंध की अवस्था में अधिक बल-प्रयोग से या अतिसार की अवस्था में निर्बलता के कारण गुदा प्रवाहण करते समय बाहर आ जाती है। इस अवस्था में घृत या वैसलीन से चिक्कण करके उसको ऊपर चढ़ा देना चाहिए, और फिर गोफणिका-बंध अथवा लँगोट का उपयोग कराना चाहिए। आयुर्वेद में मूषिकादि घृत तथा चांगेरी घृत * को विशेष रूप से अंतःप्रयोग कहा गया है। एवं बाह्य सेक मूषिक मांस से करना चाहिए।

आध्मान—इसका कारण बृहदांत्र में वायु-प्रकोप है। इसके लिये तारपीन के तेल से उष्ण-परिषेक करना चाहिए। गरम पानी का एनीमा देकर हिंगु और पिपरमेंट वाटर, शतपुष्पार्क की मात्रा दे देनी चाहिए। उत्तम हो कि एक कैलोमल की मात्रा दे दी जाय।

---

* देखिए भैषज्यरत्नावलि—क्षुद्र रोगाधिकार

ज्वर

का गरम होना, प्यास, तेज नाड़ी, लाल, तम-
चेहरा और मैला मूत्र जिसमें हो, उसे साधारण परि-
में ज्वर कहते हैं। परंतु ये व्यापक लक्षण कई
नक रोगों के कारण यथा विद्रधि (Boil) में भी हो
ते हैं *।

ज्वर के कारण बहुत हैं। यथा कई ज्वरों का कारण जीवाणु हैं। बहुधा शीत, मलबंध आदि से भी ज्वर हो जाता है। ज्वर की प्रतीति पर शिशु को सब बच्चों से पृथक्, शांत, अँधेरे कमरे में रखना चाहिए। जब ज्वर होता है, उस समय शरीर में ज्वलन-क्रिया अधिक शीघ्रता से होने लगती है। शरीर में लय उतनी शीघ्रता से नहीं होता। विषों को बाहर निकालनेवाले अवयव यथा यकृत, आंत्र, वृक्क पर विशेष कार्य-भार पड़ जाता है। रक्त विषों के कारण दूषित होकर और रचना को भी (मस्तिष्क, मेरुदंड) दूषित कर देता है, जिससे इनका संपूर्ण शरीर पर से प्रभाव हट जाता है, इसके परिणाम-स्वरूप आक्षेप होने लगते हैं।

चिकित्सा—शिशु को बिस्तर पर लेटाकर, भोजन बंद करके पीने को पानी यथेष्ट मात्रा में देना चाहिए। पानी की मात्रा

---

* स्वेदावरोधः संतापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा।
युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥

जितनी अधिक दी जायगी, विष उतने ही बाहर निः विशेषतः यदि शिशु को गरम रक्खा जाता है। यदि अधिक हो एवं आक्षेप-प्रलाप आदि हों, तो शीत पानी वस्ति, शीत पानी का दबाव, शीत-स्नान और शीत-पा (स्पंज या टब में) देना चाहिए। सिर पर शीत रूम रखना चाहिए। यदि आँतों से रक्तस्राव हो, नाड़ी मंद ह पेट में अफारा हो, तो स्नान नहीं कराना चाहिए *।

ज्वर उतारने के लिये औषध देना उत्तम नहीं। यदि वातिक लक्षणों के लिये देनी पड़े, तो सावधानी से एंटीफ़ैब्रीन का उपयोग कर सकते हैं। शिशु के लिये ½ ग्रेन, १½ से २ वर्ष के लिये १ ग्रेन दें। स्नान के पश्चात् त्वचा को गरम तैल से यदि मल दिया जाय, तो पसीना बहुत आएगा।

आराम—यह आवश्यक है। यदि औषध देनी आवश्यक हो, तो सल्फ़ोनल या ट्राइनोल की एक मात्रा दे देनी चाहिए। विषों को बाहर करने के लिये उत्पादक अंगों को उत्तेजित रखना चाहिए।

विरेचन एवं उत्तेजना भी रोगी को देनी आवश्यक हो जाती है। निद्रा लाने के लिये उपर्युक्त स्नान विशेषतः गरम स्नान और ट्राइनोल देना चाहिए।

---

* ज्वरादौ लंघनं पथ्यं, ज्वरमध्ये तु पाचनम्।
ज्वरान्ते भोजनं प्रोक्तम्।
बलं यत्नेन पालयेत्।

ज्वरों को तीन भागों में बाँटा गया है। यथा—

१. ज्वर का एक बार चढ़कर कभी साधारण न होना। इसको 'सतत ज्वर' कहते हैं।

२, ज्वर २४ घंटे में एक बार साधारण होकर फिर चढ़ता है। इस को 'संतत ज्वर' कहते हैं।

३. जिन ज्वरों में त्वचा पर कोठ निकलते हैं, उन्हें 'एरैप्टिक ज्वर' कहते हैं।

सतत ज्वर—ये ज्वर २४ से ४८ घंटे तक लगातार रहते हैं, और फिर धीरे-धीरे या एकदम उतर जाते हैं। इनका कारण गर्मी का अधिक लगना, धूप में नंगा फिरना, सर्दी, नमी या दंतोद्गम का समय है। इसके कारण रोगी को सुस्ती, कंपन, सिर-दर्द, अंगों में दर्द, प्यास, गाढ़ा मूत्र, १०२ से १०४ डिगरी का ज्वर और कभी-कभी आक्षेप भी हो जाते हैं। कभी-कभी ज्वर के पीछे कोठ भी निकल आते हैं। इससे ताप-परिमाण सहसा बढ़ जाता है।

इस रोग का भेद निम्न-लिखित रोगों से करना चाहिए—चिकनपॉक्स में फुंसियाँ लुप्त हो जाती हैं, खसरा में खाँसी-जुकाम का अभाव, स्कारलैट ज्वर प्रायः भारत में नहीं होता, गले में शोथ का अभाव, चेचक में कमर में सख्त दर्द, तीव्र वमन का अभाव। टाइफ़ाइड से तीसरे या चौथे दिन भेद किया जाता है।

चिकित्सा—शिशु का आमाशय भरा हो, तो वमन करा देनी

चाहिए। उत्तम यही है कि कैलोमल की एक मात्रा रात को अवश्य दे दी जाय। भोजन हलका, दूध थोड़ा देना चाहिए। पसीना उतरते समय कुनैन की मात्रा अवश्य दे देनी चाहिए।

तीव्र ज्वर—यदि उत्तम चिकित्सा न हो, तो आक्षेप होने लगते हैं। यह प्रायः ग्रीष्म-ऋतु में होता है। मांस-पेशियों में प्रायः तीव्र संकोच होता है। शरीर में विक्षोभ, बेचैनी, प्रलाप होता है। पुतली फैली रहती है। ताप-परिमाण का देर तक ऊँचा रहना, पसीना न आना, ये अशुभ लक्षण हैं।

चिकित्सा—शीत-परिचर्या का आरंभ करते हुए एंटीफैब्रीन की एक मात्रा दे दें।

टाइफ़ाइड ज्वर—ज्वर लगातार दो-तीन सप्ताह तक रहता है। शरीर पर ८ से १२ दिन में कोठ निकलते हैं। जो प्रथम ग्रीवा, छाती, पेट पर निकलते हैं। इनका रंग गुलाबी होता है। दबाने से श्वेत, परंतु फिर गुलाबी हो जाते हैं। इसमें कभी-कभी अतिसार या क़ब्ज़ रहती है।

लक्षण—शिशु बेचैन रहता है। शरीर भारी, सिर-दर्द, उच्च ताप-परिमाण (१०४° तक), त्वचा ख़ुश्क, परंतु अति गरम, मूत्र गाढ़े पीले रंग का, श्वास में दुर्गंधि, जिह्वा किनारों से लाल, परंतु बीच से सफ़ेद, आध्मान और मल में दुर्गंधि होती है। ताप-परिमाण प्रातःकाल एक या दो अंश घट जाता है।

इस रोग का कारण एक कृमि (Typhoid Bacilus),

है। इसका विष दूध, पानी और वायु द्वारा फैलता है। अतः दूध और पानी को अच्छे प्रकार उबालना आवश्यक है।

पूर्व-कथन—यदि लक्षण बहुत तीव्र न हों, अर्थात् थोड़ा अतिसार, कोष्ठ में स्पर्श-समता, ताप का १०२ डिग्री से ऊपर न जाना, जिह्वा का तर होना, ये लक्षण हों, तो पूर्व-कथन उत्तम होता है।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा उत्तम परिचर्या है। क्योंकि इस रोग में आँतों में व्रण हो जाते हैं। अतः रोगी को हिलने नहीं देना चाहिए। मलबंध न हो, इसके लिये एनीमा, एरंड-तैल, पैराफ़ीन लिक्विड देते रहना चाहिए। अतिसार के लिये बिस्मथ और सैलोल उत्तम हैं। पानी यथेष्ट दें। इसे उबालकर शीत कर लें, अथवा क्लोरोजन मिलाकर दें। दूध थोड़ा-थोड़ा, परंतु अच्छे प्रकार उबालकर दें। दूध के स्थान पर यवोदक भी दे सकते हैं। चूँकि यह रोग फैलनेवाला है, अतः रोगी के मल-मूत्र आदि को कृमि-रहित करना चाहिए। रोगी के कमरे में कोई खाद्य पदार्थ नहीं रखना चाहिए। कोष्ठ में दर्द और आध्मान हो, तो उष्ण परिषेक तथा गरम पानी का एनीमा तारपीन के तेल से देना चाहिए। प्रलाप तथा अधिक ताप के लिये शीत परिषेक, शीत दबाव, शीत लेप करें। भोजन की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए। ज्वर को साधारण हुए जब तक दस दिन न हों, तब तक ठोस भोजन नहीं देना चाहिए *।

* इसमें सोडियम सल्फो कार्बनास एक उत्तम ओषधि है।

इस रोग का आक्रमण प्रायः दुबारा होता है, एवं उपद्रव (निमोनिया) होते रहते हैं। अतः विशेष ध्यान रखना चाहिए। निर्बलता की अवस्था में कुनैन देनी चाहिए।

प्रत्यावर्तित ज्वर (मौसमी बुख़ार)—इस रोग का कीटाणु मलेरिया है, जो मच्छर के काटने से शिशु में आता है। इसके संक्रमण से इस ज्वर में तीन अवस्थाएँ आती हैं—प्रथमावस्था शीत की है। रोगी को एकदम कँपकँपी आरंभ होती है। संपूर्ण शरीर जाड़े से काँपने लगता है। साथ ही अंगों में दर्द और वमन आरंभ हो जाता है। कभी-कभी अतिसार भी होता है। इसके कुछ समय बाद उष्णावस्था आरंभ हो जाती है। रोगी का चेहरा लाल हो जाता है। त्वचा इतनी गरम होती है कि हाथ नहीं लगाया जा सकता। मूत्र की मात्रा कम हो जाती है। इसके ठीक पीछे स्वेदावस्था आती है। यह स्वेद प्रथम माथे से आना आरंभ होता है। धीरे-धीरे रोगी सिर से पैर तक पसीने से नहा जाता है, और ज्वर उतर जाता है। अब मूत्र भी आ जाता है। रोगी कुछ काल बाद स्वस्थ हो जाता है। अगले दिन फिर इसी प्रकार ज्वर चढ़ता है। ज्वर की तीव्रता से प्रलाप हो जाता और नाड़ी तेज़ हो जाती है। जिह्वा मैली रहती है।

चिकित्सा—जब तक स्वेदावस्था न आवे, रोगी को गरम वस्त्रों से भली भाँति ढाँपकर सुला देना चाहिए। यदि ताप बहुत ऊँचा हो, या प्रलाप हो रहे हों, तो शीत-परिचर्या करनी चाहिए।

ज्वर उतरने पर कुनैन दे देनी चाहिए, और मलबंध के लिये केलोमल देना चाहिए। कुनैन का उपयोग कई दिन तक करना चाहिए। शिशु को मच्छरदानी में रखना चाहिए।

शीत-ज्वर—इसके कारण और लक्षण प्रायः वे ही हैं, जो प्रत्यावर्तित ज्वर के हैं। परंतु इसमें ज्वर अधिक नियमित रहता तथा भूख अधिक लगती है। इसके लक्षण बहुत अधिक होते हैं। शिशु रोगी प्रतीत नहीं होता। जँभाई और अरुचि प्रायः होती है। शरीर में भारीपन आ जाता है। प्रथम मूत्र अधिक आता है, परंतु फिर घट जाता है। मूत्र का रंग गाढ़ा हो जाता है। त्वचा ठंडी और फीकी होती है। परंतु ताप-माप ऊँचा हो जाता है। इसके बाद मलेरिया की भाँति उष्णावस्था आती है, जिसमें ताप १०४ डिग्री तक पहुँच जाता है, और फिर पसीना आकर ज्वर उतर जाता है। यदि ज्वर प्रतिदिन चढ़ता है, तो शीतावस्था का समय घटता जाता है। परंतु यदि तीसरे दिन चढ़ता है, तो शीतावस्था बढ़ती जाती है। उष्णावस्था छोटी हो जाती है।

चिकित्सा—मलेरिया की भाँति है। अर्थात् कुनैन का उपयोग आवश्यक है। उत्तम है कि कुनैन सायट्रिक एसिड के साथ दी जाय।

प्रायः मलेरिया के उपद्रव-स्वरूप तिल्ली और यकृत का बढ़ना होता है। इस अवस्था में तिल्ली के लिये कुनैन आरसनिक और आयरन के साथ देनी चाहिए। मलबंध का विशेष ध्यान

रखना चाहिए। दुग्ध भोजन, व्यायाम तथा वायु-परिवर्तन भी उत्तम है *।

इन्फ़्ल्यूएंज़ा—यह संक्रामक रोग है। इसमें ज्वर के साथ खाँसी, ज़ुकाम तथा गले में शोथ हो जाती है। ज्वर प्रायः ३ या ४ दिन रहता है। यह ज्वर या तो उतर जाता या बढ़ जाता है। इस रोग का आक्रमण सहसा सर्दी से होता है। बेचैनी, सिर, पीठ और कोष्ठ में दर्द, साधारण खाँसी, भूख की कमी तथा वमन भी हो जाता है।

चिकित्सा—इसमें रोगी को गरम रखते हुए नासिका से वाष्प (चोकर में युक्लिप्टिस मिलाकर) देना चाहिए। ज्वर की दवाई के साथ 'सोडियम सेलिसिलेट' देना चाहिए। आवश्यकता होने पर विरेचन दे देना चाहिए। भोजन में उपवास या हलका भोजन देना चाहिए। कमज़ोरी में शक्ति-वर्धक ओषधि और वायु-परिवर्तन आवश्यक है।

डेंग्यु—इस रोग का प्रारंभ दर्दों से होता है। सर्दी लगकर ताप-परिमाण बढ़ जाता है। जोड़ों में, विशेषतः अस्थियों में दर्द आरभ हो जाता है। हाथ-पाँव के पृष्ठ पर छोटे-छोटे कोठ निकल आते हैं। ये स्वयं कुछ दिन बाद अच्छे हो जाते हैं। ज्वर घट जाता है, कोठ छिप जाते हैं, दर्द शांत हो जाता है। रोगी स्वस्थ हो जाता है। परंतु निर्बल हो जाता

---

* पेटेंट ओषधि—फैलोज़ सीरप, ईस्टन सीरप, दोनो उत्तम हैं।

है। फिर दो दिन बाद इसी प्रकार सर्दी तथा दर्दों से ज्वर चढ़ता है, और दो दिन रहकर उतर जाता है। इस प्रकार आक्रमण होते रहते हैं। प्रत्येक आक्रमण में रोगी निर्बल होता जाता है।

चिकित्सा—ज्वरों की भाँति है। मृदु विरेचक और स्वेदक औषधियाँ देनी चाहिए। दर्दों के लिये अफ़ीम उत्तम है। सेलिसिलेट और कुनैन भी देकर देखनी आवश्यक है। रोगी की निर्बलता का ध्यान हर समय रखना चाहिए।

आमवात-ज्वर—यह रोग सहसा आरंभ होता है। शिशु को सर्दी, गले में शोथ, जोड़ों में दर्द, प्यास, भूख का नाश तथा ज्वर हो जाता है। ताप १०२ से १०३ डिग्री हो जाता है। पसीना बहुत आता है। जोड़ों में दर्द और शोथ बढ़ने के साथ ताप-परिमाण भी बढ़ता जाता है। नींद नहीं आती। जोड़ों पर गाँठें दस प्रतिशत रोगियों में दिखाई देती हैं।

यह रोग अपने आप भयानक नहीं। इसके उपद्रव हृदय में होकर (Endocarditis) इसे भयानक बना देते हैं। अतः आवश्यक है कि हृदय की परीक्षा बार-बार की जाय।

चिकित्सा—शिशु को कम चौड़े पलँग पर (जिससे वह हिले नहीं) लेटाकर खूब गरम रखना चाहिए। जोड़ों पर उष्ण परिषेक (जिसमें तारपीन का तेल या सर्जक्षार पड़ा हो) करना चाहिए। रुई से ढाँपकर पट्टी बाँध देनी चाहिए। तीव्र विरेचक देने उत्तम हैं। दर्द के लिये सेलिसिलेट, एस्पायरीन

प्रत्येक तीन घंटे बाद देनी चाहिए। इनको देर तक न देकर फिर सर्जक्षार देना आरंभ कर देना चाहिए। रोग शांत होने पर शक्ति-वर्धक ओषधियाँ दें। दर्दों में डोवर्स पाउडर भी उत्तम है। शिशु को शीघ्र बिस्तर से न उठने दें। भोजन द्रव, सुपच, पुष्टिकारक होना चाहिए। पीने के लिये नमक का पानी या सोडावाटर दें।

निमोनिया (Pnumonia)—प्रायः दो मास की आयु में अधिक आक्रमण होता है। इसका कारण सर्दी, अशुद्ध वायु है। दंतोद्गम के कारण भी फेफड़ों में शोथ हो जाती है। कई रोगों के उपद्रव-स्वरूप भी होता है।

श्वास और नाड़ी में अनुपात नहीं रहता। श्वास तेज़ हो जाती है। त्वचा गरम और ख़ुश्क हो जाती है। कास के साथ बलग़म नहीं आता। बलग़म निकलने का यत्न करके रह जाता है। प्यास, निद्रा-नाश, बेचैनी और ज्वर तथा श्वास में शब्द की ध्वनि सुनाई देती है। बलग़म निकालने के प्रयत्न में कभी-कभी वमन हो जाता है। बलग़म सूखा जमा (जंग-जैसा) दर्द से आता है। श्वास लेने के समय नाक फूल जाती है; गाल लाल हो जाते हैं। मूत्र पतला, जिह्वा पीछे भूरी और आगे लाल होती है।

चिकित्सा—शिशु को गरम रखने के लिये फ़लालैन की कुर्ती पहना देनी चाहिए। छाती पर गरम रेत का सेक या अलसी अथवा राई का उपनाह या 'एन्टीफ़्लोजस्टीन' का लेप कर देना चाहिए। श्वास के लिये नाक से वाष्प देना चाहिए।

इसके लिये पानी में युक्लिप्टिस या टिंचर बेनजोइन कंपौंड डाल देना चाहिए। नींद के लिये ट्राइनोल देना चाहिए। भोजन द्रव या दूध होना चाहिए। पीने को गरम चाय दें।

चिकित्सा में बलग़म निकालने के लिये वमन एवं क्षार (Amonia Carb, Am. chloride) आदि दें। शिशु को सदा उत्तेजित रक्खें। शराब (ब्रांडी या रम) या कुचले का उपयोग करते रहें।

काली खाँसी

यह फैलनेवाला रोग है। प्रायः ३ वर्ष के बच्चों में होता है। ५ वर्ष के पीछे कम और फिर १० वर्ष के बाद अधिक होता है।

रोग प्रायः सर्दी से आरंभ होता है। खाँसते-खाँसते शिशु बेदम हो जाता है। वह एक बड़ा भारी साँस खींचता है। गले में खारिश और ज्वर हो जाता है। नाक से पानी आता है। फुप्फुस में शोथ हो जाती है। शिशु नीला पड़ जाता है। श्रवण करने से फुप्फुसों में रगड़ की ध्वनि आती है। इस रोग की पहचान रोगी के खाँसने से स्पष्ट हो जाती है।

चिकित्सा—सबसे प्रथम वमन करने का यत्न कराना चाहिए। बलग़म को निकालने के लिये छाती पर सेक और तेल की मालिश करनी चाहिए। शिशु को गरम रखना चाहिए। टिंचर कैंफ़र को या डोवर्स पाउडर की मात्रा

देनी चाहिए। Bromofarm का व्यवहार इस रोग में उत्तम देखा गया है *।

खसरा

यह संक्रामक रोग है, जो छोटे बच्चों या वायु के द्वारा फैलता है। एक आक्रमण से प्रतिशक्ति आ जाती है। रोग का समय १० से १४ दिन है। रोग के प्रारंभ में खाँसी, गले की ग्रंथियों में शोथ तथा जुकाम होता है। रोग का प्रारंभ इन लक्षणों के साथ ज्वर से होता है। मुख में एक विशेष प्रकार का छाला (Koplik's spots) हो जाता है। शरीर पर चौथे दिन कोठ निकल आते हैं, जो सिर से निकलने प्रारंभ होते हैं। इनका रंग ईंट के समान लाल होता है। त्वचा से उभरे होते हैं। कोठ निकलने से ज्वर पहले से बढ़ जाता है, कम नहीं होता (जैसे चेचक में घट जाता है)। ये कोठ तीन दिन तक पूर्णावस्था में रहते हैं। उसके बाद नवें दिन त्वचा लाल हो जाती है। त्वचा पर छिलके आ जाते हैं। लक्षण धीरे-धीरे कम होने लगते हैं। इस बीच में रोगी को खुजली इतनी जोर से होती है कि वह उसे रोक नहीं सकता। कभी-कभी यह रोग तीव्र-रूप होता है। इसके अतिरिक्त प्यास, मैली जिह्वा और सुस्ती होती है।

---

* आयुर्वेदीय ओषधि—काकड़ासिंगी, पिप्पली, यष्टीमधु, अतिविषा को शहद के साथ दें। कंटकारी अवलेह—बहेड़े की गिरी की मींग शहद के साथ दें। वासावलेह उत्तम है।

चिकित्सा—शिशु को स्वच्छ, हवादार कमरे में रखकर वाष्प सुँघाने चाहिए। पीने को केवल द्रव दें। उसे सर्दी से बचाना चाहिए। ज्वर कम करने के लिये ज्वर उतारनेवाले मिश्रण देने चाहिए। खुजली हटाने के लिये स्पंज या अलसी का तेल लगाना चाहिए। आक्षेप हो, तो गरम पानी से स्नान (राई के पानी का स्नान) कराना चाहिए। यदि ज्वर सहसा उतरे, तो उत्तेजना दे देनी चाहिए। भोजन द्रव या दूध देना चाहिए।

चेचक

यह रोग रोगियों द्वारा या वायु से फैलता है। इसके दो रूप हैं—(१) जब चक्के अंतर से हों और (२) जब चक्के आपस में एक दूसरे से संबंधित हों। इस रोग की तीन अवस्थाएँ होती हैं—

प्रथमावस्था—पीठ और कटि में तीव्र दर्दों के साथ, बेचैनी और सर्दी लगकर ज्वर चढ़ता है। वमन और सिर-दर्द रहता है। जिह्वा मैली और मूत्र का रंग गाढ़ा होता है। तीसरे दिन तक ये लक्षण रहते हैं। जब कोठ निकल आते हैं (जो तीसरे दिन निकलते हैं), तब घट जाते हैं। कोठ माथे से प्रारंभ होकर सारे शरीर पर फैलते जाते हैं।

द्वितीयावस्था—माथे पर हाथ फेरने से उभार दिखाई देता है। कोठ दबाने से दबते नहीं। दो दिन पश्चात् कोठों के सिर पर श्वेत द्रव आ जाता है। इसके पश्चात् इसका रंग पीला हो जाता है। त्वचा लाल और सूज जाती है।

तृतीयावस्था—अब फिर ज्वर बढ़ने लगता है, जो ११वें दिन तक रहता है। १४वें दिन ये कोठ छाले का रूप ले लेते हैं। कोठ बीच से दब जाते हैं। पानी सारे छाले में फैल जाता और वह फट जाता है। ज्वर साधारण हो जाता है। छिलके २१ दिन बाद बनने आरंभ होते हैं। निर्बलता आरंभ हो जाती है।

द्वितीय प्रकार की चेचक में कोठ आपस में मिले होते हैं, जिससे लक्षण बहुत भयानक हो जाते हैं। छिलके भूरे या काले रंग के होते हैं। ६ से १४ दिन का समय भयानक है।

चिकित्सा—रोगी को शांत, अँधेरे कमरे में आराम से लेटा देना चाहिए। वस्त्र हलके, नरम होने चाहिए, जिससे विक्षोभ न हो। इस रोग में स्पंज शीत पानी से या 'पोटाशियम परमैंगनेट' डालकर करनी चाहिए। पीने को पानी दें। भोजन द्रव दें। आँखों पर बोरिक मलहम या वैसिलीन लगा देनी चाहिए, जिससे पलकें चिपकी रहें। औषध के लिये प्रथम वमन कराना उत्तम है, मृदु विरेचन की आवश्यकता हो, तो दिया जा सकता है। ज्वर मिश्रण में 'टिंचर सीला' मिलाकर देना चाहिए। कोठों पर कार्बोलिक तेल या जैतून का तेल, युक्लिप्टिस ऑयल के साथ मिलाकर, लगाना चाहिए, अथवा नीम के पत्तों की झाग या कल्क का शरीर पर लेप कर देना चाहिए। कोठों के फटने पर रोगी को उपलों की राख पर लेटा देना चाहिए। रोगी की उपद्रवों से (विशेषतः निमोनिया से) रक्षा करनी चाहिए।

लघुमसूरिका

यह संक्रामक रोग है। १४ दिन तक रहता है। इसमें ज्वर २४ घंटे रहता है। छाती और पीठ पर लाल रंग के कोठ निकल आते हैं। इनमें दूसरे दिन पानी भर जाता है। अपूर्णावस्था में आकर पाँचवें दिन सूखने लगते हैं। नवें या १०वें दिन छिलके झड़ने लगते हैं।

चिकित्सा की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। मृदु विरेचन दे देना चाहिए।

स्कारलैट फ़ीवर

यह भारत में कम होता है। इसमें कोठ, गले की शोथ, वमन होती है। कोठ दूसरे दिन निकलते हैं। यह भी फैलनेवाला रोग है। इसमें दर्द, वमन, गलशोथ, ज्वर, सिर-दर्द होता है। गल-शोथ इतनी हो जाती है कि रोगी कुछ निगल नहीं सकता, ग्रंथियाँ सूज जाती हैं। ज्वर चढ़ने पर ये लक्षण और भी बढ़ जाते हैं। टांसिल बढ़कर मध्य रेखा तक आ जाते हैं। इनके सिरे पर पीला-सा धब्बा दिखाई देता है। कोठ के छिपने पर ताप भी गिरना आरंभ हो जाता है।

चिकित्सा—रोगी को प्रतिदिन स्पंज या पानी से स्नान कराना चाहिए। चेचक की भाँति जंतुनाशक तैल के मिश्रण मलने चाहिए। गले में गार्गल या आयोडीन ग्लैसरीन लगावें।

सेक, उपनाह (जिसमें अफ़ीम पड़ी हो) करना चाहिए। सिर पर, शरीर पर शीत-परिचर्या, शीत एनीमा दें। वृक्क शोथ और मध्य कर्ण के उपद्रवों से विशेषतः बचाना चाहिए।

डिप्थीरिया

इसका कारण एक कीटाणु है। रोग का समय २ से ४ दिन है। यह संक्रामक रोग है। जो रोगी से, संक्रांत दूध से, वनस्पति के सड़ने और गल-शोथ आदि से फैलता है।

लक्षण—ज्वर एवं गले में शोथ होती है। गले के टांसिल सूज जाते हैं। उनके ऊपर एक हरा-सा धब्बा बन जाता है, जो शीघ्र ही झिल्ली में बदल जाता है। यह झिल्ली शीघ्र ही गले की श्वास-प्रणाली और नाक को भी ढाँप लेती है, जिससे रक्तस्राव भी हो जाता है। गले की ग्रंथियाँ सूज जाती हैं। निगलना कठिन हो जाता है।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा इसका सीरम या Anti-toxine ही है। उसकी मात्रा देनी आरंभ करनी चाहिए। रोगी को सबसे पृथक् कर देना चाहिए।

मंप्स (हापू)

यह भी फैलनेवाला रोग है। इसमें गले की लाला-ग्रंथियाँ सूज जाती हैं, जिससे निगलने में कठिनता होती है। इसके साथ ज्वर भी हो जाता है। ग्रंथियाँ कभी-कभी दोनो ओर की

सूजती हैं। इस रोग का मुख्य उपद्रव अंड-शोथ है। कभी स्तन-शोथ भी हो जाती है।

इसकी चिकित्सा के लिये रोगी को आराम देते हुए एक विरेचन प्रतिदिन या दूसरे दिन देते रहना चाहिए। गले पर सेक (जिसमें धतूरा या अफ़ीम पड़ी हो) तथा इकथी ओल बैलिडोना ग्लैसरीन का लेप करना चाहिए।

विसूचिका

इस रोग का कारण एक कृमि है, जो पानी, दूध आदि से शरीर में जाता है। शिशु को प्रथम अतिसार, फिर वमन आरंभ हो जाती है, जिसका रंग प्रथम साधारण होता है, फिर चावल के धोवन-सा हो जाता है। शिशु में ऐंठन आरंभ हो जाती है। हाथ-पाँव ठंडे हो जाते हैं। नाड़ी निर्बल, चेहरा और ओष्ठ पीले, अति प्यास, मूत्रावरोध तथा बेचैनी होती है।

चिकित्सा—शिशु को खूब गरम रखना चाहिए। प्यास के लिये बर्फ़ दें। उत्तम है कि भोजन कोई मत दिया जाय।

अतिसार बंद करने के लिये अफ़ीम भी नहीं देनी चाहिए। रोगी को सदा उत्तेजित रखना चाहिए। नमक के पानी का इंजेक्शन करना चाहिए। अतिसार बंद करने का प्रयत्न करना चाहिए।

स्पिरिट कैंफर का उपयोग उत्तम है। पीने के पानी में पोटाशियम परमैंगनेट डालकर देना चाहिए ❋।

मुख-पाक या मुख-शोथ

यह तीन प्रकार की है—सादी, तीव्र और घातक या भयानक।

साधारण—यह प्रायः छालों (Thrush) से मिलती है। उत्पत्ति के बाद नहीं होती। १ से ५ वर्ष के बच्चों में पाई जाती है। इसका कारण आमाशय के विकार होते हैं। डिप्थीरिया में भी देखी गई है। इससे मुख लाल तथा शोथ-युक्त हो जाता है। मसूड़ा, जिह्वा, ओष्ठ तथा गले में सफेद रंग की फुंसी कभी-कभी दिखाई देती है। यह फुंसी फटकर शीघ्र व्रण बन जाती है। इसके कारण अतिसार, लाला-स्राव हो जाता है। शिशु को पानी या स्तन पीना कठिन हो जाता है। एक अच्छी होती है, दूसरी निकल आती है।

तीव्र मुख-शोथ—प्रायः मसूड़ों पर होती है। मुख की अशुद्धता से प्रायः दो वर्षों के बच्चों में पाई जाती है। मसूड़े शोथ-युक्त होते हैं। उन पर हरी-सी परत जमी होती है। जिसके हटाने पर रक्तस्राव होने लगता है। मुख से दुर्गंधि आती है। गले की ग्रंथियाँ भी सूज जाती हैं। मुख से रक्त-मिश्रित लाला-स्राव होता है।

❋ ४ तोला इंद्रजौ १ सेर पानी में उबालकर ½ सेर रहने पर पानी में बर्फ डालकर देना चाहिए। प्याज़ का रस भी उत्तम है।

घातक या भयानक शोथ—इसे कैंक्रामोरस कहते हैं। इसका कारण अशुद्ध या मलिन पोषण तथा स्वास्थ्य की कमी है। शारीरिक निर्बलता प्रायः होती है। खसरे और मलेरिया में भी मिलता है। इसमें रोग का प्रारंभ धीरे-धीरे होता है। स्थानिक दर्द होता है। गालों पर शोथ होकर एक लाल, चमकदार दाग़ बन जाता है। त्वचा पर तेल पदार्थ की चमक होती है। फिर एक फैलनेवाला व्रण बन जाता है। श्वास में दुर्गंधि, लाला-स्राव, लाला-ग्रंथियों में शोथ होती है।

चिकित्सा—मुख को सर्जद्दार से पूर्णतः साफ़ रखना चाहिए, विशेषतः दूध पीने के पश्चात्। स्थान को तीव्र Silver Nitrate (प्रोटारगोल १ औंस में ३० gr.), या क्लोरोफ़ार्म या Acid Carbolic से जला देना चाहिए। अंतः Formanient का उपयोग करना चाहिए। मलबंध के लिये विरेचन दे देना चाहिए। शिशु को उचित चिकित्सा द्वारा निर्बलता से बचाना चाहिए।

कृमि

प्रायः तीन प्रकार के अंतःकृमि होते हैं। यथा—

(i) Thread warm—धागे के समान ½ से ¾ इंच तक लंबे होते हैं। ये प्रायः गुदा में रहते हैं। इनके कारण गुदा में ख़ारिश होती है। प्रायः मल के साथ आ जाते हैं। इनकी चिकित्सा के लिये तिक्त और कटु वस्तियाँ देनी चाहिए। यथा नमक, Quassia, चिरायता और कसीस (Ferri sulph) की।

(ii) Round warm (गोल कृमि)—प्रायः ४ से १२ इंच तक लंबे होते हैं। रंग श्वेत या गुलाबी होता है। सिरे पर नोक होती है, जिसके सहारे आँतों में अटके रहते हैं। आमाशय में आकर तीव्र वमन उत्पन्न कर देते हैं। इसके लिये थाईमोल या सैंटोनान देकर एरण्ड तैल की मात्रा दे देनी चाहिए।

(iii) Tape warm (गंडूपद)—ये १० से ३० फ़ीट तक लंबे होते हैं। सिर गोल, गर्दन तंग होती है। इनका स्थान सूक्ष्मांत्र भी है। इनके कारण उदर-शूल होता है। इनके लिये Ext. Filicis Liquid (अनार की छाल का काढ़ा) या Turpentine Oil Rect. देना चाहिए *।

अंतःकृमियों के कारण शिशु प्रायः रात्रि को चौंकता है; उसको आक्षेप, हस्तमैथुन की आदत, बस्ति में क्षोभ प्रायः रहता है।

जूँ

इसके लिये वस्त्रों तथा बालों की स्वच्छता रखनी चाहिए। जूँ मारने के लिये मिट्टी का तेल, कार्बोलिक लोशन या मरकरी लोशन (५०० में १) उत्तम है।

त्वचा के रोग

युवाओं की अपेक्षा शिशुओं में अधिक होते हैं।

---

* आयुर्वेद में—पलाश के बीज, पपीते का दूध, विडंग, कंपिल्ल, इंद्वाकू बीज और चिरायता प्रायः प्रयुक्त होते हैं। 'विडंगाद्य लोह'; कृमिमुद्गर-रस प्रायः प्रचलित हैं।

वीसर्प (Eczema)—प्रायः घुटनों और कोहनी पर होता है। सिर, गर्दन, नितंबों पर भी मिलता है। इसमें पानीवाली छोटी-छोटी फुंसियाँ हो जाती हैं, जिनसे पानी निकलकर अन्य स्थान पर भी विक्षोभ उत्पन्न कर फुंसियाँ उत्पन्न कर देता है। शिशु को खाज बहुत होती है। खुरंड सूखकर पीले हो जाते हैं। साबुन नहीं बरतना चाहिए।

चिकित्सा—खुरंडों को निशास्ता और बोरिक एसिड उपनाह द्वारा उतारकर जंतु-नाशक और संकोचक प्रलेप या लोशन लगाना चाहिए। बोरिक एसिड, कपूर, इकथाल चाक Oil Eucliptis और जस्त की भस्म का उपयोग मिलित रूप में उत्तम है।

पामा—प्रायः ओष्ठ पर ज्वर के पश्चात् होता है। फुंसियाँ ऊपर से पीली और गुच्छों के आकार में होती हैं। इनका रंग लाल होता है। कुछ समय बाद स्वयं अच्छी हो जाती हैं। एक विरेचन दे देना चाहिए। खुरचने से बचाना चाहिए *।

विचर्चिका—यह फैलनेवाला रोग है। हाथों की उँगलियों के

---

* आयुर्वेद के अनुसार सिर में कंडू और मुख के पास फुंसी Herpis होना ज्वर से मुक्त होने का लक्षण है। देखिए माधव-निदान में ज्वर-मुक्त के लक्षण।

बीच में प्रायः होता है। छोटी-छोटी फुंसियाँ हो जाती हैं। त्वचा लाल हो जाती और सूज जाती है। फुंसी दबाने पर पानी निकलता है, फुंसी को पिन से फोड़कर, तेल में गंधक मिलाकर रगड़ देना चाहिए। मृदु विरेचन देना चाहिए। नीम का साबुन उपादेय है।

दद्रु—इसमें चक्के के रूप में छोटी-छोटी फुंसियाँ हो जाती हैं। अत्यंत कंडू होती है। खुजाने से थोड़ा पानी निकल आता है। इन चक्कों का आकार भिन्न-भिन्न होता है।

इसके लिये क्राईसारोबीन प्रलेप या Acetic Acid सिरकाम्ल लगाना चाहिए। स्थान सदा साफ़ रखना चाहिए।

जलना—यदि शरीर का कम भाग जला हो, तो कैरन ऑयल (चूने का पानी और तिल-तैल) या पिक्रीक एसिड घोल शरीर पर लगाना चाहिए। नारियल का तेल भी उत्तम है।

रात्रि-भय

प्रायः यह देखा जाता है कि शिशु रात को सोते-सोते डरकर चीख उठता है। इसका कारण कोई भयानक स्वप्न होता है। प्रायः माताएँ शिशुओं को सुलाने या रोते हुए को चुप कराने के लिये डराने की कथाएँ या वार्ताएँ कहती हैं। ये ही संस्कार उनके ऊपर स्थिर हो जाते हैं। अथवा

अजीर्ण, कृमि या श्वास में कठिनता होती है। कारण प्रायः आमाशय में होता है। ऐसी अवस्था में अजीर्ण को हटाते हुए कृमियों के नाश का प्रतिकार करना चाहिए। पेट भरकर सुलाना उत्तम नहीं। कई बार शिशु उठकर चलने-फिरने लगता है।

जिन बच्चों में यह रोग होता है, उनका स्वभाव चिड़चिड़ा, क्रोधी हो जाता है। यह मानसिक कारण रोग-ग्रस्त शिशु में प्रायः पाया जाता है। अतः आवश्यक है कि शिशु के मन पर किसी प्रकार का दबाव न डाला जाय। गले में Tonsil की चिकित्सा करनी चाहिए।

कार्श्य

इस रोग के कारण का अभी तक पता नहीं लगा। परंतु मृत्यु के पश्चात् शवच्छेद से देखने पर इसके परिवर्तन यक्ष्मा के समान हैं। इसमें शिशु का भार सदा घटता जाता है। भोजन में कोई भी परिवर्तन सफलता नहीं देता। क्षीणता इतनी शीघ्रता से होती है कि रोगी का कंकाल ही रह जाता है। पेशियाँ सब नष्ट हो जाती हैं। इस रोग को कोई चिकित्सा नहीं है *।

---

* सुश्रुत के अनुसार इस रोग का कारण गर्भिणी माता का दूध पीना है।

सूरत के स्वर्गीय त्रिलोकचंद्रजी ने इसका कारण संभोग के पश्चात् शिशु को दूध पिलाना बतलाया है। देखिए आयुर्वेद-निबंधमाला, गुजराती।

यक्ष्मा

यह रोग भयानक है। कोई भी शिशु इस रोग से ग्रस्त उत्पन्न नहीं होता, परंतु निर्बल फुप्फुस तथा अन्य निर्बलताओं के साथ उत्पन्न होता है। यदि उचित साधनों से, उचित परिस्थिति में रक्खा जाय, तो शिशु इस रोग से सदा के लिये बच जाता है, अन्यथा रोग के कीटाणु के लिये एक उत्तम भूमि है। जीवाणु प्रवेश करके शीघ्र बढ़ता है। यह कीटाणु दूध द्वारा, रोगी के बलगम से, धूल द्वारा और चुंबन से प्रायः आता है। अतः इस रोग से बचाने के लिये आवश्यक स्वस्थवृत्त तथा भोजन का ध्यान रखना चाहिए। शिशु प्रायः पाँव के अँगूठे चूसते रहते हैं, या तिनका अथवा नखों को मुख से कुतरते रहते हैं। ऐसी अवस्था में कीटाणु सुगमता से प्रविष्ट हो जाते हैं। अतः ये आदतें छुड़ा देनी चाहिए।

कुष्ठ

इसके लिये कुष्ठी दंपति से शिशु को पृथक् ले जाना चाहिए, जिससे उत्तम परिस्थितियों में रहने से उसमें रोग उत्पन्न न हो।

अस्थि-निर्बलता

यह अस्थियों की निर्बलता का रोग है। जब तक अस्थियों का निर्माण पूर्ण नहीं होता, या उनमें कैलसियम की समास पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँचती, तब यदि शिशु को शीघ्र खड़ा किया जाता या चलाया जाता अथवा और कोई कार्य किया जाता है,

तो अस्थियाँ अपने असली झुकाव की ओर और भी अधिक झुक जाती हैं। उन पर गाँठें पड़ जाती हैं। विशेषतः पैरास्टरनल लाइन पर। अतः आवश्यक है कि ऐसी अवस्था में उसे शीघ्र खड़ा न किया जाय। चलने या खड़े होने के अभ्यास के लिये एक गड़ीलना बनवा देना चाहिए, जिसके सहारे शिशु खड़ा हो या चले। रोग की अवस्था में कैलसियम (यथा कैलसियम फ़ॉस्फ़ेट या हाइपो फ़ॉस्फ़ेट, वंशलोचन-प्रवाल) देना चाहिए।

स्कर्वी

इसमें निर्बलता, मसूड़ों से जल्दी रक्तस्राव होता है। इसका कारण अनुचित, अशुद्ध पोषण, स्वास्थ्य की निर्बलता, बिटामीन का अभाव (पॉलिस्ड चावल या मैदा खाना) है। मसूड़ों से रक्तस्राव, हृदय का धड़कना, जंघा का अंतःभाग पीला होना, निर्बलता, ये मुख्य लक्षण हैं। शिशु और बच्चों के साथ नहीं खेलता। न हँसता है। टाँगें सूख जाती हैं। पांडुता रहती है।

चिकित्सा के लिये पोटाशियम, कैलसियम से बनी वस्तुएँ, दूध, फलों के रस (संतरा, नींबू, इमली उत्तम हैं), ताज़ी, हरी सब्जियाँ देनी चाहिए।

कामला, मुखपाक, आक्षेप और बिस्तर पर मूत्र करने के कारणों और चिकित्सा के लिये उत्पत्तिकालीन रोगों को देखिए।

प्रवाहिका में जब बच्चों को आँव या मरोड़े आते होते हों, तो

पहले एरंड-तैल देकर फिर अतिसार के समान चिकित्सा करनी चाहिए।

श्वास

श्वास की अवस्था में प्रथम Amyle Nitrate सुँघाते रहें। सबसे पूर्व वमन करा देना चाहिए। धत्तूर का उपयोग आयोडाइड (Pot. Iodide) तथा एडरनैलीन क्लोराइड के साथ उत्तम है। आवश्यक हो, तो Bromides भी दें।

हिचकी

यह रोग भयानक है। शिशु को हिचकियाँ लगातार आती रहती हैं। इस अवस्था में Morphia sulphate या Hydrochloride का इंजेक्शन करना चाहिए, अथवा वमन कराके तीव्र विरेचन देना चाहिए। नासिका से पानी पिलाना (मुँह बंद करके), विशेषतः नमक का मिश्रण भी उत्तम देखा गया है *।

---

* मयूर-पिच्छ-भस्म, काकड़ासिंगी और पिप्पली को मधु के साथ देना भी उत्तम है।

छठा प्रकरण

गृह-चिकित्सा और परिचर्या

१. स्वास्थ्य बाज़ार से नहीं ख़रीदा जा सकता।

२. स्वच्छता परमात्मा से उतरकर दूसरे नंबर की पवित्रता है।

आवश्यकता

गत योरपीय महायुद्ध में चिकित्सकों की अत्यधिक सहायता के अपेक्षित होने से एवं गृहस्थियों के रुपए की समस्या ने इस विषय (गृह-चिकित्सा) की ओर ध्यान खिंचवा दिया। मनुष्य प्राकृतिक साधनों की ओर झुकने के लिये बाधित हुए। थोड़ी-थोड़ी शिकायतों के लिये, छोटे-छोटे रोगों के लिये बार-बार डॉक्टर बुलाना या दवाई ख़रीदकर लाना एक गृहस्थ के लिये असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। अतः मनुष्य इन सब कठिनाइयों से बचने के लिये साधन ढूँढ़ने लगे।

वह साधन उत्तम वायु, धूप, आराम, उत्तम एवं परिमित भोजन, पानी और योग्य व्यायाम है। इनमें से प्रत्येक वस्तु अपना विशेष महत्त्व रखती है। परंतु इन सबमें चिकित्सा का मुख्य साधन पानी है। उसके नाम पर ही एक चिकित्सा-

पद्धति (Hydro - therapy) पृथक् बनाई गई है। इस चिकित्सा के लिये विशेष निपुणता की प्रायः घर में आवश्यकता नहीं। एक साधारण शिक्षित व्यक्ति भी इसे स्वयं कर सकता है। चिकित्सक इस कार्य में उसे पूर्ण सहायता देता है।

उष्ण परिषेक

इसके द्वारा शुष्क या आर्द्र उष्णिमा शरीर में दी जाती

चित्र नं० १७
उष्ण परिषेक

है। आर्द्र उष्णिमा अधिक प्रभावशाली एवं सह्य होती है। इसकी विधि इतनी स्पष्ट है कि प्रत्येक गृहस्थ इसका उपयोग

कर सकता है। यह उष्णिमा गरम पानी, गरम रेत, गरम पत्थर, गरम ईंट आदि से दी जाती है, जिसमें पिछली तीन वस्तुओं को एक गीले कपड़े या कागज़ में लपेटकर शरीर पर रखते हैं।

पानी का गरम सेक करने के लिये दो-चार टुकड़े चाहिए, जो आधे ऊन या आधे सूत के हों। आवश्यक नहीं कि नवीन ही हों। घर के पुराने कंबल भी उपयोगी हैं। इनके अभाव में सूती कपड़े की कई तहें भी उत्तम हैं। सेक करने के लिये एक गरम पानी की डेगची में इनको डाल दो। पानी इतना रक्खो कि ये टुकड़े डूबे रहें। जब पानी उबल जाय, तो एक वस्त्र को निकाल कर उसे दूसरे वस्त्र में रखकर लपेट लिया जाता है। फिर उसे निकालकर रुग्ण प्रदेश पर रक्खा जाता है। रखने से पूर्व स्थान पर रूमाल या अन्य पतला वस्त्र रख देना चाहिए, और ऊपर से शुष्क वस्त्र (दूसरे टुकड़े) से ढाँप देना चाहिए। वस्त्र यदि तह बनाकर रक्खा जायगा, तो उष्णिमा देर तक रहेगी। इसके ठंडा होने से पूर्व दूसरा वस्त्र निकालकर, इसी प्रकार निचोड़कर रखना चाहिए। पहला वस्त्र फिर डेगची में डाल देना चाहिए। इस प्रकार सेक आराम से हो सकता।

यदि सेक शीघ्र करना हो, तो समाचार-पत्रों की २०-२५ तह लगाकर गरम वस्त्र पर रख दें। उस पर गरम पानी इतना डालें, जिससे वस्त्र आर्द्र हो जाय। पानी चुवे नहीं।

उसे समाचार-पत्रों में लपेटकर रुग्ण स्थान पर रख देना चाहिए।

उष्ण सेक के पश्चात् शीत परिषेक करना आवश्यक है। यह परिषेक बर्फ़ या शीत पानी से ही होना चाहिए। इसका समय कुछ ही मिनटों तक है। अर्थात् यदि ३० मिनट गरम सेक दिया जाय, तो शीत परिषेक बर्फ़ से दो-तीन बार ही करना चाहिए। इस सेक का समय अधिक-से-अधिक ३० मिनट है। जलने से रोगी को बचाना चाहिए*।

गरम कंबल से सेक

इसके देने के लिये तीन या चार कंबल, तीन या चार रबर की बोतल, सिर तथा हृदय को शीत रखने के लिये शीत परिषेक कई अँगोछे और पाँव के स्नान के लिये टब चाहिए। रोगी को लेटाने से पूर्व बिस्तर पर एक कंबल बिछा दें, जो तकिए तक आ जाय। फिर रोगी को नंगा करके उसमें उस समय लेटा दिया जाता है। तब गरम कंबल गरम पानी से निचोड़कर उस पर रख देते हैं। कोई-कोई चिकित्सक पहले कंबल का गरम पानी से निचोड़कर कंबल पर रख देते हैं। फिर रोगी इसमें घुस जाता है। ऊपर से गरम कंबल और डाल दिए जाते हैं। और, क्रमशः दोनो पार्श्वों से कंबलों में लपेट दिया जाता है। गरम कंबल ग्रीवा तक पूरे

* देखिए चरक में स्वेद-विधि।

आ जाते हैं। उनकी रगड़ से बचाने के लिये वहाँ एक उपर्नो रख दिया जाता है। टाँगों के बीच में और पाँव पर गरम पानी की बोतलें रख दी जाती हैं। सिर पर ठंडा पानी या बर्फ़ की भरी रबर की बोतल रखते हैं। इस समय गरम पानी पीने को दिया जाता है।

यह स्नान दिन में एक ही बार कराना चाहिए। इसका समय ३० मिनट से अधिक नहीं। यदि हृदय की गति मंद हो (जो श्वास से जानी जा सकती है), तो हृदय पर बर्फ़ की बोतल या शीत परिषेक करना चाहिए।

गीले, गरम कंबल उठाने से पूर्व रोगी को अँगोछे से रगड़ देना चाहिए। एक-एक अंग को क्रमशः शुष्क कर देना चाहिए। इसके लिये स्पंज-स्नान या शीत अँगोछा व्यवहार में लाना चाहिए। पीठ को सबसे अंत में साफ़ करना चाहिए। रोगी को पीछे शीत से बचाना चाहिए।

फ़ुट-बाथ

निद्रा न आती हो, उस समय अति उपयोगी है। यह बिस्तर या स्टूल पर बैठाकर कराया जा सकता है। रोगी के गिट्टे अवश्य डूबने चाहिए। टाँगों के स्नान में पानी घुटनों तक आना चाहिए। पानी का ताप प्रथम १००° फ़० होना चाहिए। फिर धीरे-धीरे बढ़ाते जाना चाहिए। यदि स्नान पाँच मिनट से अधिक किया जाय, तो सिर पर ठंडी वस्तु रखनी

चाहिए । रोगी का शेष भाग गरम वस्त्रों से ढाँप देना चाहिए * ।

स्टिज़-बाथ

यह स्थानिक शोथ (यथा वस्ति के रोग), मूत्राघात, मूत्र-कृच्छ्रता, या कोष्ठ-शूल में उपादेय है। इसमें साधारण टब भी उपयोगी है । उसे एक ओर से ऊँचा (नीचे ईंट या लकड़ी रखकर) करके उसमें प्रथम १००° फ़ारनाहिट डिग्री का पानी भर दें। टब के दोनो किनारों पर आमने-सामने दो अँगोछे रख देने चाहिए, जिससे टब का किनारा पीठ और घुटनों पर न लगे। पानी का ताप धीरे-धीरे बढ़ाते जाना चाहिए। सिर पर शीत पानी का वस्त्र रखना चाहिए। रोगी को टब-समेत चारो ओर से लपेट देना चाहिए। पसीना उत्तमता से आए, अतः गरम पानी पिलाते रहना चाहिए। ३० मिनट से अधिक नहीं कराना चाहिए। स्नान समाप्त करते हुए पानी को ठंडा पानी मिलाकर ठंडा कर देना चाहिए। रोगी को पानी से निकालकर पूर्ण शुष्क कर देना चाहिए।

स्पंज-बाथ

यह ज्वरों में ताप कम करने के लिये कराया जाता है।

---

* प्रत्येक गरम स्नान के बाद शीत परिषेक आवश्यक है। इसी प्रकार गरम पाँव-स्नान के पश्चात् कुछ सेकंड ठंडे पानी में भिगोकर पाँव को फिर रगड़ना चाहिए, और अच्छी तरह शुष्क कर देना चाहिए।

इसमें या तो रोगी का प्रत्येक अंग क्रमशः स्पंज या हाथ से अथवा वस्त्र द्वारा शीत पानी से एक-एक करके धोते हैं, या सारे शरीर को एक साथ स्पंज किया जाता है। सिर पर

चित्र नं० १८

स्पंज-बाथ

सदा ठंडा पानी रखना चाहिए। पानी का ताप ६०° फ़० से कम नहीं होना चाहिए। यदि ताप की अवस्था में कराया जा रहा है, तो ३० मिनट से अधिक नहीं बढ़ाना चाहिए। वातिक लक्षणों से रोगी को बचाना चाहिए।

आर्द्र परिषेक—इसके लिये अँगोछे की कई तहें करके, उसको पानी में (शीत या उष्ण, आवश्यकतानुसार) तर करके

स्थान पर रख देते हैं। ऊपर खुश्क वस्त्र ढाँप दिया जाता है। पानी बहुत चूना नहीं चाहिए।

रबर की बोतल से सेक

यह प्रायः व्यवहार में आती है। बाज़ार में किसी अच्छे

चित्र नं० १६

रबर की बोतल भरना

दवा बेचनेवाले से मिल सकती है। इसमें डाट लगी होती

है, जिससे पानी निकल नहीं सकता। सब स्थानों पर सुगमता से रक्खी जा सकती है। पानी बहुत गरम नहीं होना चाहिए, अन्यथा जहाँ रोगी को नुक़सान होगा, वहाँ बोतल भी ख़राब हो जायगी। बोतल का २/३ हिस्सा ही पानी से भरना चाहिए। १/३ ख़ाली रखना आवश्यक है। बोतल की गरमी देखने के लिये उसे बग़ल, गालों और गर्दन पर लगा लेना चाहिए। बोतल को फ़लालैन (अभाव में अँगोछा) से ढाँप देना चाहिए। अचेतनावस्था में विशेष सावधानी से व्यवहार करनी चाहिए। कहीं रोगी जल न जाय। इससे दीर्घ काल तक गरम सेक दिया जा सकता है। तरी से जलने की संभावना बढ़ जाती है, अतः गीला कपड़ा बोतल पर नहीं रखना चाहिए। जिस समय बोतल का उपयोग न हो, उस समय इसे उलटा, डाट निकालकर, लटका देना चाहिए।

एनीमा

इसके लिये प्रायः दो प्रकार के एनीमे बरते जाते हैं। एक, जो रोगी स्वयं पंप करके लेता है। इनमें इस वस्ति का सिरा गुदा में होता और दूसरा पानी में डूबा रहता है। रोगी स्वयं अपने हाथ से पंप करता है। इससे पानी गुदा में चला जाता है।

दूसरे प्रकार के एनीमे में डूश ऊपर लटका दिया जाता है। इसकी उँचाई रोगी से ३ फ़ीट से अधिक साधारण

अवस्था में नहीं रखनी चाहिए। जितना ऊँचा डूश होगा, पानी उतनी ही ज़ोर से जायगा।

यदि एनीमा ताप कम करने के लिये दिया जा रहा है, तो पानी शीत (७० से ८०° फ़०) होना चाहिए। और, यदि आँतों का शोथ हटाने या मल निकालने के लिये दिया जा रहा है, तो पानी का ताप १०३ से ११०° फ़० होना चाहिए। पानी में साबुन भी घोल सकते हैं। परंतु झागदार नहीं होना चाहिए। पानी का आँतों में रहना अधिक भयानक है। चूँकि गरम पानी में विष तथा वायु घुली होने से शरीर में वह शीघ्र चूस लिया जाता है, अतः आवश्यक है कि दो-तीन वस्तियाँ दी जायँ। आँतों की शक्ति बढ़ाने के लिये यदि एनीमा दिया जाता है, अथवा अन्य अवस्था में भी गरम पानी के बाद शीत पानी की वस्ति (६५ से ७०° फ़०) अवश्य देन चाहिए।

एनीमा लेने के लिये Knee Chest Position (छाती के समान घुटने रखकर) या वाम पार्श्व में लेटकर, बाईं टाँग सिकोड़कर वस्ति लेनी चाहिए। वस्ति लेकर कुछ देर रोकना चाहिए। पानी का ताप ६५ से ११०° फ़० तक रखना चाहिए, जब केवल आँतों की शुद्धि अभीष्ट है। एनीमे द्वारा शरीर में वायु नहीं जाने देनी चाहिए। अतः गुदा में नली डालने से पूर्व शीत पानी बहने देना चाहिए। इससे वायु बाहर निकल जायगी, और समाप्ति पर थोड़ा पानी

छोड़ देना चाहिए। प्रथम प्रकार के एनीमे में वायु प्रायः चली जाती है *।

एनीमे की आदत डालनी उत्तम नहीं। इसे केवल सामयिक चिकित्सा ही समझना चाहिए।

परिचर्या

प्रायः घरों में शिशुओं (युवाओं की भी) की चिकित्सा का भार माता पर पड़ता है। अतः प्रत्येक गृहस्थ को इस विषय में भी कुछ साधारण ज्ञान रखना आवश्यक है।

घर—रोगी के लिये घर शांत तथा ऐसे स्थान पर होना चाहिए, जहाँ एक समय धूप भी आ सके। साथ ही समीप में स्नान-गृह भी हो। संक्रामक रोगों की अवस्था में घर के ऊपर की मंजिल में मकान चुनना चाहिए। इससे वह मच्छरों से भी कुछ समय तक बच सकता है, एवं संक्रमण फैलने में कुछ न्यूनता होने की संभावना है। सब अनावश्यक सामान निकाल देना चाहिए। धूल आदि से घर पूर्ण स्वच्छ होना चाहिए। धूल झाड़ू से साफ़ न करके गीले कपड़े से साफ़ करनी चाहिए।

वातायन—कमरे में सदा शुद्ध वायु आनी आवश्यक है। इसके लिये यह उत्तम विधि है कि सब कमरों में (चाहे छोटे

---

* सावशेषं च कुर्वीत...वायुर्हि तिष्ठति।
तस्माच्चिकित्सार्द्धं इति प्रदिष्टः; कृत्स्ना चिकित्सापि च वस्तिरेकैः।
(वाग्भट्ट)

भी हों) एक वातायन छत के समीप या छत में बनाया जाय, और दूसरा फ़र्श के पास कुछ उँचाई पर। रोगी को वायु के झोंके से सदा बचाना चाहिए। शीत वायु सदा ताज़ी वायु नहीं होती। कमरे में अँगीठी या लैंप जलाना वायु की आवश्यकता बढ़ा देता है। सब स्रावों को कमरे से दूर कर देना चाहिए, क्योंकि ये वायु अशुद्ध कर देते हैं।

साधारणतः कमरे का ताप ६५° से ७५° फ़० तक रहना चाहिए। परंतु निमोनिया आदि की अवस्था में बढ़ा सकते हैं।

बिस्तर—तंग, ऊँचा, लोहे का बिस्तर सबसे अच्छा है।

चित्र नं० २०

बच्चे की शय्या

रज़ाई की अपेक्षा कंबल अच्छे हैं, क्योंकि यह शीघ्र साफ़ हो

सकते, एवं गरम होने के साथ हलके भी हैं। चद्दर श्वेत होनी चाहिए। यदि बिस्तर गीले होने की संभावना हो, तो मोम-जामा या बरसाती का उपयोग करना चाहिए। सिलवटों से बिस्तर को सदा बचाना चाहिए।

शिशु की छाती पर वस्त्रों का भारी बोझ नहीं रख देना चाहिए। शिशु को यदि बैठाना हो, तो पीछे तकिए या अन्य वस्तु का सहारा देना चाहिए। कोष्ठ ढीला करने या घुटने मोड़ने के लिये घुटनों के नीचे तकिया रखना चाहिए।

चद्दर बदलने के लिये रोगी को एक करवट करके चद्दर लपेटकर शिशु की पीठ तक पहुँचा देना चाहिए, और साथ ही दूसरी चद्दर लपेटकर बिछाते हुए उस चद्दर के समीप पहुँचा देनी चाहिए। फिर शिशु इन दोनो लिपटी हुई चादरों पर करवट देकर शेष चद्दर को निकालते हुए नई चद्दर बिछा देनी चाहिए। बिस्तर बदलने में शिशु को कम-से-कम कष्ट देना चाहिए।

पोशाक बदलना—सबसे प्रथम शिशु के बटन खोलकर कुरते या कोट से बाज़ू निकालनी चाहिए। एक बाज़ू निकाल लेने पर सिर से वस्त्र सुगमता से निकल आता है। तदनंतर दूसरे हाथ से निकाला जा सकता है। या पहले दोनो हाथों से निकालकर फिर सिर से निकालना चाहिए। पहनाते समय कुरते की बाज़ू सिकोड़कर छोटी कर लेनी चाहिए, और फिर

हाथों को उनमें से खींच लेना चाहिए। तदनंतर ग्रीवा को थोड़ा-सा ऊँचा करके सिर पर से कुरता को पहना देना चाहिए। सिर पर से पहनाकर फिर भी बाज़ू को इसी प्रकार पहना सकते हैं।

शय्याव्रण (Bed sores)—इससे बचाने के लिये बिस्तर पर सिलवट नहीं होनी चाहिए। रोगी की बारी-बारी से करवटें बदलते रहना चाहिए। एक ही अवस्था में देर तक नहीं पड़े रहने देना चाहिए। ये व्रण उन स्थानों पर होते हैं, जहाँ अस्थियाँ उभरी होती हैं, यथा मेरुदंड के निचले भाग पर, नितंब पर, स्कंध पर, एड़ी, कोहनी पर। इसके लिये स्थान अलकोहल और पानी (समान भाग) या सिरके या लाइम-जूस से कठोर बना देने चाहिए। बोरिक एसिड या प्रतिसारण-चूर्ण छिड़क देना चाहिए। रोगी के इन स्थानों को प्रतिदिन साबुन से दो बार धोकर पूर्ण शुष्क कर देना चाहिए। यदि रोग का भय हो, तो अंडे की सफ़ेदी या Zinc ointment लगाना चाहिए।

बाल—रोगी के बालों को सदा कंघी और ब्रश से साफ़ करना चाहिए। यदि ये फँस जायँ, तो तेल लगाकर धीरे-धीरे थोड़े-थोड़े करके जड़ से सिरे तक कंघी कर देना चाहिए। स्त्रियों के बालों के बीच से माँग (चीर) निकाल देनी चाहिए। पीछे वेणी बाँधना या गूँथना रोगी के आराम में बाधा देता है।

दाँत—दाँतों की स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। दाँतों को तीन बार ब्रश से साफ़ करना चाहिए। भोजन के पश्चात् दाँतों को वस्त्र या रुई से साफ़ कर देना चाहिए। Listerine और पानी, टंकण और पानी, शुद्ध मद्य और पानी या चने का पानी के कुछ बूँद गुलाबजल में मिलाकर साफ़ गलाले करें। कृत्रिम दाँत भोजन के पश्चात् निकालकर पूर्ण स्वच्छ कर लेने चाहिए। दाँतों के आगे-पीछे, मसूड़े या छत साफ़ रहनी चाहिए।

रोगी को यदि Bedpan देना हो, तो एक हाथ उसकी कटि के नीचे से गुज़ारकर थोड़ा उठा लें, और फिर दूसरे हाथ से बेडपैन सरका दें। इस बात का ध्यान रक्खें कि किनारों या अन्य किसी प्रकार से रोगी के चोट न लगे। बेडपैन निकालते समय रोगी को दोनों हाथों से ज़रा ऊँचा कर देना चाहिए। निकालकर उसे तत्क्षण ढाँपकर कमरे से बाहर ले जाना चाहिए। यदि कोई आवश्यक वस्तु हो, तो उसे पृथक् कमरे से दूर रखना चाहिए, जिससे चिकित्सक देख सके।

भोजन—स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा रोगी के लिये यह और भी आवश्यक है। रोगी की थाली, रकाबी, कटोरियाँ, हाथ, अँगोछा आदि सब पूर्णतः साफ़ होने चाहिए। रोगी और धात्री के हाथ स्वच्छ होने चाहिए। भोजन की गंध यथासंभव सुरक्षित कर लेना चाहिए। भोजन आनंद और रुचि के साथ खिलाना चाहिए। इसके लिये सब भोजनों को एक बड़े

थाल में पृथक्-पृथक् रखना चाहिए। गुलदस्ते, फूल आदि बीच-बीच में या टेबुल पर रख देने चाहिए। मेज़ को अन्य सुंदर वस्तुओं से सजा देना चाहिए, जिससे भोजन के प्रति रोगी की इच्छा बढ़े। रोगी को खाने के लिये पर्याप्त समय देना चाहिए। वह भोजन को पूर्ण रूप से चबावे। मुख साफ़ करने के लिये रूमाल (मलमल का) उत्तम है, अँगोछा नहीं। भोजन एक बार में अधिक खावे, इसकी अपेक्षा दो या तीन बार दें; परंतु दें थोड़ा-थोड़ा करके। भोजन में रंग नहीं डालने चाहिए *।

यथासंभव ताज़ा भोजन दें। देर तक गरम या बहुत गरम भोजन उत्तम नहीं। भोजन शीत या शीतोष्ण या उष्ण होना चाहिए। बहुत गरम भोजन उत्तम नहीं। अतिसार में अति उष्ण भोजन आमाशय में रोग उत्पन्न कर देता है। आमाशय को आराम देना आवश्यक है। रोगी को भोजन की प्रतीक्षा या भोजन की कमी से निर्बल नहीं होने देना चाहिए। उसे समय पर भोजन मिल जाना आवश्यक है।

भोजन सादा, मसालों-रहित और थोड़े नमकवाला होना चाहिए। उसमें तेज़ गंध नहीं आनी चाहिए। सूखे भोजन और

---

* उष्णं, स्निग्धं, मात्रावज्जीर्णे, वीर्याविरुद्धं, इष्टे देशे, इष्टसर्वोपकरणे, नातिद्रुतं, नातिविलम्बितं, न जल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत। आत्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक्। (आत्रेय)

वसा की अधिक मात्रा से बचना चाहिए। घी सावधानी से देना चाहिए। रोगी को शर्करा अवश्य दें।

ज्वर में भोजन—तीव्र ज्वरों में ताप बढ़ा होने से तंतु क्षीण हो रहे होते हैं। क्षुधा नष्ट हो जाती है। इसलिये भोजन द्रव, सुपच होना चाहिए। द्रव शीघ्र विलीन होकर शरीर को शक्ति देते हैं। पानी अधिक मात्रा में शरीर में पहुँचने से विष हलका हो जाता है।

ज्वरों में भोजन अधिक बार परंतु थोड़ी-थोड़ी मात्रा में देना चाहिए। प्रत्येक दो या तीन घंटे के अंतर से भोजन देना चाहिए। जब ताप-परिमाण बढ़ता और घटता हो, तो घटे हुए ताप में भोजन देना चाहिए। रोगी को पर्याप्त पानी देते रहना चाहिए।

ज्वरों में दूध पर्याप्त उत्तम भोजन है। इसको घूँट-घूँट करके पीना चाहिए। लस्सी यथासंभव देते रहना चाहिए। जौ का पानी, फलों के रस भी उत्तमता से दिए जा सकते हैं।

प्रतिदिन का रेकर्ड—चिकित्सक को दिखाने के लिये प्रतिदिन रेकर्ड रखना आवश्यक है। इसमें नाड़ी-गति, ताप-परिमाण, श्वास-गति, मल और मूत्र की अवस्था तथा संख्या, भोजन किस प्रकार का दिया गया और कब-कब दिया गया, चिकित्सा और ओषधि, निद्रा की अवस्था, दर्द, लक्षण आदि बातें लिखनी चाहिए।

ताप-परिमाण—यह क्लीनकल थर्मामीटर से लिया जाता है।

इसको ६७° फ़० से या इससे भी नीचा करके, रोगी का मुँह खुलवाकर जीभ के नीचे जितनी दूर संभव हो, उतनी दूर पारेवाला भाग रख देना चाहिए, और मुँह बंद कर देना चाहिए। परंतु मुख न तो गरम हो और न ठंडा। इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि रोगी मुख से तो श्वास नहीं लेता, या १५ मिनट पूर्व मुँह पानी से धोया तो नहीं गया। यदि ताप-परिमाण मुख से न लिया जा सके, तो वंक्षण (टाँग को कोष्ठ पर मोड़कर), कक्ष (हाथ को सीधा रखकर) अथवा गुदा से लेना चाहिए। ऐसी अवस्था में पाँच मिनट रखना चाहिए और मुख की अवस्था में दो मिनट। साधारण ताप ६८· ४° फ़० मुख में होता है। बग़ल में कुछ कम और गुदा में अधिक होता है।

नाड़ी-स्पंदन गिनना—रोगी की कलाई की धमनी पर अपने हाथ की दो उँगलियाँ रखकर गिनी जाती हैं। यह धमनी हाथ के बाह्य सिरे पर, कलाई और अँगूठे के समीप, सामने की कंडरा से पीछे, होती है। स्वस्थ युवा मनुष्य की नाड़ी-संख्या एक मिनट में ७० से ८० होती है। बच्चों में कुछ अधिक और बुड्ढों में कम होती है।

श्वास गिनना—इसकी संख्या एक मिनट में १८ से २० होती है। इसे गिनने के लिये रोगी के कोष्ठ या छाती के ऊपर-नीचे होने को गिन सकते हैं। विशेषतः जब रोगी सोया हो, तो स्पष्ट रूप में गिना जा सकता है।

सुलाने से पूर्व शिशु के हाथ, पाँव, मुख आदि धो देना चाहिए। उन्हें पूर्ण शुष्क करके मेरुदंड मलते रहना चाहिए, जिससे शिशु को नींद आ जाती है। बिस्तर पर सिलवट नहीं होनी चाहिए *।

---

* उपचारज्ञातः दाक्ष्यमनुरागश्च भर्त्तरि ;
शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणा परिचरे जने। (आत्रेय)

सातवाँ प्रकरण

दीर्घायु प्राप्त करनेवाले शिशुओं के शुभ लक्षण

दीर्घायु कुमारों के निम्न-लिखित लक्षण होते हैं—

केश—सब पृथक्-पृथक, मृदु, अल्प, स्निग्ध, दृढ़-मूल और कृष्ण-वर्ण।

चित्र नं० २१

भाग्यशाली मारवाड़ी-शिशु

[विस्तृत ललाट देखिए]

त्वचा—दृढ़ और स्थूल।

मस्तक—स्वाभाविक आकृतिवाला, अल्प प्रमाणाधिक्य, अनुरूप एवं छाते के समान।

ललाट—विशाल, दृढ़, सम, सुश्लिष्ट, शंखसंधि-युक्त, अर्द्ध-व्यक्त, उपचित, वलि-युक्त, अर्धचंद्राकृति।

कान—बड़े, कान की पीठ बड़ी, समतल, दोनो कान एक समान नीचे, बढ़े, पीछे से नीचे, बड़ा कान का छिद्र।

भ्रू—थोड़ी लटकनेवाली, परस्पर संगत, समान, संहत और बड़ी।

चक्षु—दोनो समान, समाहितदर्शन, सुविभक्त, सरल, तेज-युक्त एवं वर्त्मादि अंग-उपांग-युक्त।

नासिका—ऋजु, दीर्घ, निःश्वास युक्त, दीर्घ केशयुक्त, आगे से कुछ झुकी।

मुख—बड़ा, सरल, सुनिविष्ट दाँतोंवाला।

तालू—चिकना, लाल, पुष्ट और उष्ण।

स्वर—महान्, स्निग्ध, प्रतिध्वनि-युक्त, गंभीर, धीर।

ओष्ठ—न बहुत मोटे, न बहुत पतले, विस्तृत, मुख को ढाँपनेवाले, लाल रंग के।

हनू—बड़े।

ग्रीवा—बहुत बड़ी नहीं।

उर—विशाल और पुष्ट।

पृष्ठवंश—जत्रु और पृष्ठवंश गूढ़, गंभीर।

स्तन—बीच का स्थान चौड़ा।

पार्श्व—दोनो अंसों के साथ समानुपाती, दृढ़।

बाहु, नितंब, उँगली—गोल, परिपूर्ण, दीर्घ।

पाँव के तलुवे—बृहत् और परिपुष्ट।

नख—दृढ़, गोलाकार, स्निग्ध, उच्च, ताम्रवर्ण, कछुवे की पीठ के समान ऊँचे।

नाभि—दक्षिणावर्त, उत्संग-युक्त (बीच से दबी, किनारों से ऊँची)।

कटि—नाभि और वक्षःस्थल के अंतःवर्ती चतुर्थ भाग प्रमाण-विशिष्ट, समान, परिपुष्ट।

नितंब—दो गोलों की भाँति, दृढ़, मांसल; न बहुत ऊँचे, न बहुत नीचे।

ऊरु—वृत्त और पुष्ट।

जंघा—न बहुत मोटी और न बहुत पतली; हरिण के पाँव की भाँति, गूढ़ शिरा, संधिवाली।

गुल्फ—न तो बहुत दबे, न बहुत ऊँचे।

पाँव—पूर्वोक्त गुणवाले, कछुवे के आकार के उत्तम हैं।

इससे भिन्न वायु, मूत्र, पुरीष, गुह्य, निद्रा, जागरण, हाव-भाव, स्तनपान स्वाभाविक होना चाहिए, और जो यहाँ नहीं कहा, वह भी प्राकृतिक, स्वाभाविक होना चाहिए। इससे विपरीत अर्थात् अस्वाभाविक अनभिप्रेत है।

आठवाँ प्रकरण

बच्चों की चिकित्सा में ध्यान रखने योग्य बातें

(१) बच्चों के भी प्रायः वे ही रोग होते हैं, जो युवा व्यक्तियों में मिलते हैं। अतः इनकी भी ओषधियाँ वे ही हैं, जो युवा व्यक्तियों के काम आती हैं।

(२) मात्रा—ख़ूराक का विशेष ध्यान रखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के लिये मात्रा देश, आयु, बल, प्रकृति और रोग के स्वभाव देखकर निश्चित करनी चाहिए।

(३) बच्चों की ओषधि द्रव एवं यथासंभव मीठी होनी चाहिए। इसी दृष्टि से यहाँ सब क्वाथ दिए हैं।

(४) बहुत-सी दवाइयाँ ऐसी हैं, जो माता को दे दी जायँ, तो उनका प्रभाव दूध के द्वारा बच्चे में आ जाता है। इसलिये जो बच्चे माता का दूध पीते हों, उस अवस्था में विरेचक या कड़वी ओषधियाँ उनकी माता को देनी चाहिए।

(५) दाँत निकलने के समय कोई विशेष चिकित्सा की जरूरत नहीं होती, इसलिये ओषधियों से बच्चे को परेशान नहीं करना चाहिए।

(६) क्वाथ करने का नियम—जितनी औषध हो, उससे सोलहगुना पानी डालकर मिट्टी के बर्तन में पकने को रखना चाहिए। ओषधि को पहले दरकच (अधकूट) कर लेना चाहिए, और जब आठवाँ भाग रह जाय (१६ तोले का २ तोला), तब छानकर थोड़ा गरम-गरम पीना चाहिए।

क्वाथ धीमी आँच पर पकाना चाहिए। स्टोव या कोयले की भट्ठी पर अच्छा नहीं बनता।

क्वाथ में खाँड़ या मधु चौथाई भाग डालना चाहिए। प्रत्येक बार नया क्वाथ करना चाहिए। बासी रक्खा हुआ क्वाथ हानिकारक होता है।

क्वाथ करते समय बर्तन का मुख खुला रखना चाहिए।

बच्चों के रोग जानने के उपाय

(१) बालक रोता हो, और उसके मुख से झाग आते हों, तो समझ लेना चाहिए कि कपड़ों में जूँ या खटमल हैं, अतः उन्हें ढूँढ़कर निकाल देना चाहिए।

(२) बालक बार-बार अपने पैरों को मोड़कर पेट की ओर समेटे, और पेट को दबाने या छूने न दे, तो जानना चाहिए कि पेट में दर्द है। इसके लिये—

(क) गरम हाथों या गरम फ़लालैन से कोमल सेक करना चाहिए। नमक की पोटली से सेकना भी बहुत उत्तम है।

(ख) इलायची के दो बीज और सौंफ के दो दाने माता के दूध में पीसकर देने चाहिए।

(३) बालक सोकर उठे, जीभ निकाले, और इधर-उधर सिर हिलाए, तो जानना चाहिए कि वह भूखा है।

(४) एक करवट लगातार देर तक सोने, किसी वस्तु के चुभने, चींटी अथवा मच्छर के काटने से बालक रोता है।

(५) जब बालक एँ-एँ करके चिल्लाता जाय, चुप न हो, तो समझना चाहिए कि बालक के कहीं दर्द है। दर्दवाले स्थान को अपने आप बार-बार छुएगा, परंतु दूसरे आदमी को छूने नहीं देगा।

(६) जब बालक के सिर में दर्द होता है, तब वह आँखें बंद कर लेता है।

(७) गुदा में दर्द हो, तो बालक को प्यास अधिक लगती और मूर्च्छा आती है। पेट में दर्द होने से अफारा होता है।

(८) मल में दुर्गंधि बढ़ जाय, और उसका रंग भी बदल जाय, तब समझना चाहिए कि पेट का कुछ विकार है। यह रोग क़ब्ज़ है। इसके लिये श्वेत चीनी का चूर्ण ७ रत्ती और सोंठ २ रत्ती मिलाकर दूध में देनी चाहिए।

(९) दस्त का रंग सफ़ेद हो, तो छोटी इलायची, पोदीना, पीपल, काली मिर्च और काला नमक, सब वस्तुएँ बराबर लेकर कूट-छान लेनी चाहिए। प्रतिदिन दोनो समय तीन-चार रत्ती देनी चाहिए।

(१०) यदि बालक को दस्त बार-बार आए, और खुलकर न आता हो, तो थोड़ा-सा एरंडी का तेल दूध या पानी में दे देना चाहिए।

(११) यदि पेचिश की शिकायत हो, तो थोड़ी-सी सौंफ़ या सोया पानी में पीसकर उसमें गरम पानी मिलाकर देना चाहिए।

(१२) जब बालक के पेट में कीड़े होते हैं, या मूत्राशय में शर्करा या पथरी फँस जाती है, तब बच्चा मूत्रेंद्रिय को बार-बार खींचता है, सोती बार गुदा और नाक खुजलाता है, दाँत किटकिटाता है। ऐसी अवस्था में प्रथम एरंडी का तेल देखकर कृमि-नाशक योग देना चाहिए।

(१३) पथरी हो, तो जौखार या क़लमी शोरा तथा सौंफ़ एक-एक रत्ती की मात्रा में देनी चाहिए। गोखरू का काढ़ा (मूत्रकृच्छ्र-रोग का काढ़ा) देना चाहिए।

(१४) जब बालक प्रातः सोकर उठे, तब उसके मूत्र का रंग देखना चाहिए। सफ़ेद हो, तो अजीर्ण समझना चाहिए, लाल हो, तो ज्वर। अजीर्ण की अवस्था में भोजन की ओर ध्यान करके उसे सुधारना चाहिए। पीने के लिये सोए का या गरम पानी पर्याप्त मात्रा में देना चाहिए।

(१५) बच्चे की त्वचा बहुत कोमल होती है, इसलिये साबुन आदि वस्तुओं का प्रयोग यथासंभव नहीं करना चाहिए। इसके लिये—

(क) चने का आटा सरसों के तेल और दही में मिलाकर मलना चाहिए।

(ख) पठानी लोध, मजीठ, सरसों का चूर्ण, वट के कोमल अंकुर, धनिया और चने का आटा मिलाकर मलना चाहिए।

ये वस्तुएँ कोमल हाथ से मलकर बच्चे को कुछ देर तक धूप में नंगा फिरने देना चाहिए। पीछे गुनगुने पानी से नहला-कर तौलिए से पूरी तरह साफ़ कर देना चाहिए। इसके पीछे गर्दन, बग़ल, जाँघ, अंडकोष, शिश्न, छाती, पेट पर कोई पाउडर छिड़क देना चाहिए, जिससे बदन की नमी चली जाय।

(ग) पाउडर के लिये बड़ी हरड़ का चूर्ण, लोध्र, मजीठ का चूर्ण महीन पिसवाकर रखना चाहिए। यह ठीक है कि यह चूर्ण देखने और सुगंधि में सुंदर नहीं, परंतु गुण में विशेष उपयोगी है।

कान का बहना

(१) बालक की मा के दूध की धार बच्चे के कान में डालनी चाहिए।

(२) पठानी लोध बारीक पीसकर कान में डालें।

(३) मोटे सीप या कौड़ी की राख करके कान में डालनी चाहिए।

(४) सुदर्शन का अर्क गुनगुना करके कान में डालना चाहिए।

(५) लौंग १ तोला, केशर ३ माशा, चमेली का तेल १ छटाँक आग पर चढ़ावें। जब धुआँ उठने लगे, तब उतारकर शीशी में धर लें। यह तैल कान के सब रोगों में अक्सीर है।

ज्वर में साधारण और निर्दोष योग

१. गिलोय, धनिया, नीम, लाल चंदन, पद्माख, इन औषधियों का क्वाथ करके पीने से सब प्रकार का ज्वर नष्ट होता है।

२. सोंठ, देवदारु, धनिया और छोटी-बड़ी कटेरी, इनका क्वाथ शरबत अनार के साथ देने से ज्वर शांत होता है।

३. छोटी कटेरी, चिरायता, सोंठ, गिलोय और कड़ुई कूट, इनका क्वाथ करके पीने से श्लेष्मावाला ज्वर शांत होता है। मसूरिका (चेचक) के ज्वर में विशेष उपयोगी है।

४. कायफल, इंद्रजौ, पाठा, कुटकी, नागरमोथा, इन पाँच औषधियों का क्वाथ शहद के साथ देने से कफज्वर (निमोनिया, इन्फ़्ल्यूएंज़ा) में लाभ होता है।

५. पित्तपापड़ा, वासा, कुटकी, चिरायता, धमासा, प्रियंगु, इनके क्वाथ में शर्करा डालकर पीने से खसरे के ज्वर में या जिस ज्वर में बहुत गरमी लगती हो, प्यास रहती हो, उसमें लाभ होता है।

६. मुनक्का (काली द्राक्षा), हरीतकी, मोथा, कुटकी और अमलतास तथा पित्तपापड़ा से बनाया हुआ क्वाथ टाइफाइड ज्वर में तथा और लंबे एवं कमजोर करनेवाले ज्वरों में लाभदायक है।

७. चिरायता, नीम, पिप्पली, शठी, सोंठ, शतावरी, गिलोय और बड़ी कटेरी, इनका क्वाथ इंन्फ्लयूएंजा के ज्वर में चमत्कारिक प्रभाव रखता है।

८. पित्तपापड़ा, गिलोय, सोंठ, चिरायता, नागरमोथा, इन पाँच ओषधियों को पानी में डालकर पकाना चाहिए। यह पानी मलेरिया-ज्वर में पीने के लिये देना उत्तम है।

९. शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, बड़ी-छोटी कटेरी, गोखरू, बेल की छाल, अरणी, गंभारी, रेटूं और पाटला की छाल, इन दस वस्तुओं का काढ़ा शहद डालकर पीवे। इससे वातज्वर और कफज्वर शांत होता है। इसमें पिप्पली-चूर्ण डालकर दिया जाय, तो खाँसी में विशेष आराम होता है।

१०. कायफल, नागरमोथा, भांगी, धनिया, पित्तपापड़ा, रोहिषतृण, वचा, हरड़ बड़ी, काकड़ासिंगी, देवदारु और सोंठ, इनका क्वाथ बनाकर पीने से डेंग्यू ज्वर तथा निमोनिया में विशेष लाभ होता है।

११. कुलथी, जौ, बेर, मूँग, पिप्पली-मूल, सोंठ और धनिया। प्रत्येक वस्तु चार-चार तोले लेकर ६४ तोले पानी में उबालना चाहिए। जब ३२ तोले रह जाय, तब छानकर

पीने को देना चाहिए। इस प्रकार देने से सन्निपातज्वर और आमवातज्वर में विशेष लाभ होता है।

१२. खस, पित्तपापड़ा, नेत्रबाला, मोथा, सोंठ और चंदन। प्रत्येक वस्तु एक-एक तोला लेकर ६४ तोले पानी में पकाना चाहिए। जब पानी आधा रह जाय, तब छानकर देना चाहिए।

मुख-पाक

(१) केले या ईख की ओस चटानी चाहिए।

(२) शहद पानी में घोलकर उससे मुख साफ़ करना चाहिए।

(३) हरड़, बहेड़ा, आँवला, इनका क्वाथ या चूर्ण शहद के साथ मिलाकर गलाले करना चाहिए।

(४) दारुहल्दी (रसौत), गिलोय, हरड़, बहेड़ा, आँवला, द्राक्षा, चमेली के पत्ते और धमासा, इनके क्वाथ में मधु मिलाकर गलाले करने या मुख में रखने से मुख-पाक-रोग नष्ट होता है।

(५) शीतलचीनी और पपरिया कत्था शहद में मिलाकर लगाएँ।

(६) भुना हुआ सुहागा शहद में मिलाकर लगाएँ।

(७) वंशलोचन, पपरिया कत्था और छोटी इलायची का चूर्ण छालों पर बुरक दें।

मूर्च्छा

आम, जामुन के पत्ते, बड़ के अंकुर और धमासा, इनके क्वाथ में शहद मिलाकर पीना चाहिए। इससे ज्वर, मूर्च्छा, प्यास और अतिसार शांत होता है।

तीव्र ज्वर

रीठों को पानी में खूब मलना चाहिए। जब पानी में झाग आ जाय, तब उसमें कपड़ा भिगोकर माथे पर रखना चाहिए। इससे बर्फ़ का गुण होता है।

नींद के लिये

(१) अजवायन का चूर्ण या क्वाथ जौखार मिलाकर देने से नींद आती है।

(२) छोटे चाँद का चूर्ण भी इसके लिये उत्तम है।

खाज

आक के पत्तों का रस निकालकर, उसमें हल्दी डाल कर सरसों के तेल के साथ पाक करना चाहिए। इससे खाज नष्ट होती है।

कान गिर जाना

(१) चूल्हे की राख और काली मिर्च पीसकर, उँगली पर लगाकर चतुराई से उँगली द्वारा कान को ऊपर उठा देना चाहिए।

(२) गरम वस्तु खाने को नहीं देनी चाहिए। जिसका

बच्चा दूध पीता हो, उसकी माता को भी गरम चीज़ नहीं देनी चाहिए।

(३) सिरके में मुलतानी मिट्टी पीसकर तालु पर लगा देना चाहिए, या माजूफल पीसकर उँगली से लगा देना चाहिए।

ज्वरातिसार

(१) गिलोय, धनिया, उशीर, सोंठ, नेत्रबाला, पित्तपापड़ा, बेल की छाल या गिरी, अतीस, पाठा, लाल चंदन, इंद्रजौ, चिरायता, मोथा, कुड़े की छाल, इनका क्वाथ बनाकर, ठंडा होने पर शहद डालकर पीने से ज्वर के साथ होनेवाला अतिसार नष्ट होता है।

(२) सोंठ, कुड़े की छाल, नागरमोथा, गिलोय, अतीस, इनका क्वाथ भी ज्वर के साथ होनेवाले अतिसार को नष्ट करता है।

(३) पिप्पली, अतीस, मोथा, काकड़ासिंगी, इन चार वस्तुओं का चूर्ण शहद में मिलाकर चटाने से बच्चों का ज्वर, अतिसार, कास और श्वास-रोग नष्ट होते हैं।

अतिसार

(१) कुड़े की छाल, अतीस, बेल की गिरी, मोथा, बाला, इन पाँच वस्तुओं का क्वाथ अतिसार को नष्ट करता है।

(२) ह्रीबेर, धाय के फूल, लोध, पाठा, लज्जालु, इंद्रजौ, धनिया, अतीस, नागरमोथा, गिलोय, सोंठ, बेल की गिरी, इन

वस्तुओं से बनाया हुआ क्वाथ टाइफ़ाइड में होनेवाले अति-सार या किसी भी प्रकार के अतिसार में लाभप्रद होता है।

(३) धाय के फूल, बिल्व, लोध, बालक-गजपिप्पली, इनके क्वाथ में शहद मिलाकर देने से बच्चों का अतिसार दूर होता है।

(४) धनिया, बेल की गिरी, नेत्रबाला, नागरमोथा और सोंठ, इनका क्वाथ देने से आमातिसार और उदरशूल नष्ट होता है।

(५) धनिया और सोंठ का क्वाथ अथवा इनमें एरंड-मूल मिलाकर बनाया हुआ क्वाथ या क्वाथ में एरंड-तैल मिलाकर देने से अजीर्ण-जन्य अतिसार-रोग शांत होता है।

(६) गिलोय, अतीस, सोंठ और नागरमोथा, इनका क्वाथ बनाकर देने से संग्रहणी, प्रवाहिका, आमातिसार और ज्वर नष्ट होता है।

चाँनेरी घृत

पिप्पली, पिप्पली-मूल, चीता, बड़ी पिप्पली, गोखरू, सोंठ, धनिया, पाठा, बिल्व, अजवायन, ये वस्तुएँ एक-एक तोला लेकर चूर्ण कर लेना चाहिए। ६४ तोला घी लेना चाहिए और घी से चौगुना (२५६ तोले) चौपतीया बूटी का रस एवं २५६ तोले दही का पानी मिलाकर घी पका लेना चाहिए। अर्थात् सब पानी जला देना चाहिए। केवल घी ही बचना चाहिए।

फिर छानकर घी को काम में लाना चाहिए। यह घी गुदभ्रंश (प्रवाहिका) में उपयोगी है।

वमन

(१) काकड़ासिंगी, अतीस, पिप्पली, इनका चूर्ण मधु के साथ चटाने से बच्चों की खाँसी, ज्वर और वमन शांत होता है।

(२) केवल अतीस को ही शहद के साथ चटाना चाहिए।

(३) जौखार, अतीस, काकड़ासिंगी, पिप्पली, कूट; इनका चूर्ण शहद में चटाने से खाँसी और वमन नष्ट होता है। बहुत उपयोगी है। विशेषतः ज्वर-युक्त कास में तो इसे देना ही चाहिए।

(४) बेल की छाल, गिलोय, इनका क्वाथ शहद के साथ मिलाकर देने से सब प्रकार का वमन शांत होता है। अथवा पित्तपापड़े के क्वाथ में शहद मिलाकर देने से पित्त-जन्य वमन नष्ट होता है।

कास-रोग

(१) छोटी कटेरी, कुलथी, वासा, सोंठ, इन चार औषधियों का क्वाथ करके उसमें शहद और कूट का चूर्ण मिलाकर देने से श्वास और कास-रोग नष्ट होता है।

(२) कायफल, नागरमोथा, सोंठ, कुटकी, काकड़ासिंगी, कूट, इनके चूर्ण में शहद और अदरक का रस मिलाकर चटाने से ज्वर, कास, अरुचि, वमन और पेट की वायु दूर होती है।

(३) कायफल, कूट, काकड़ासिंगी, नागरमोथा, सोंठ, पिप्पली, काली मिर्च और कपूर कचरी, इन सबका चूर्ण या इनमें से किसी एक औषधि का चूर्ण शहद में मिलाकर चटाने से कास, ज्वर, अतिसार, वायु, शूल, श्वास नष्ट होता है।

(४) कायफल, कूट, पिप्पली, इनके चूर्ण को मधु के साथ चटाने से कास, श्वास और ज्वर नष्ट होता है।

(५) देशी मिश्री १६ तोले, वंशलोचन ८ तोले, पिप्पली ४ तोले, दालचीनी २ तोले और छोटी इलायची एक तोला लेकर बारीक चूर्ण बना लेना चाहिए। यह चूर्ण शहद के साथ चटाने से श्वास, कास, क्षय, ज्वर, हाथ-पाँव का जलना और मंदाग्नि और पार्श्व-शूल नष्ट होता है। शरीर में कैलसियम की कमी को यह चूर्ण पूरा करता है। इसमें यदि प्रवाल-भस्म या प्रवाल-पिष्टी मिलाकर दी जाय, तो विशेष लाभ होता है।

निर्बलता

(१) असगंध का चूर्ण घी में मिलाकर या दूध में पकाकर खाने से विशेष बल-वृद्धि होती है। असगंध का तेल भी शरीर पर मलना चाहिए।

(२) असगंध दस तोला, बिधारा दस तोला, इनको मिलाकर घी के पात्र में रखना चाहिए। इसमें से ६ माशे या तीन माशे चूर्ण दूध के साथ खाना चाहिए।

(३) शतावरी, गोखरू, कौंच के बीज, गंगेरन, अतिबला और तालमखाना, इनका चूर्ण दूध के साथ देना चाहिए।

(४) शतावरी या बला-तैल की मालिश शरीर पर करनी चाहिए।

कृमि-रोग

(१) निशोथ, ढाक के बीज, ख़ुरासानी अजवायन, कमीली, बायबिड़ंग और गुड़, ये सब समान भाग लेकर इनका कल्क तक्र के साथ पीना चाहिए।

(२) हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, मूषापर्णी और सहजन, इनके क्वाथ में पिप्पली और बिड़ंग का चूर्ण मिलाकर पीने से सारे कृमि मर जाते हैं।

शूल

(१) सोंठ, इंद्रजौ या केवल इंद्रजौ के क्वाथ में हींग और सौवर्चल नमक डालकर पीने से वात-शूल नष्ट हो जाता है।

(२) दशमूल के क्वाथ में सेंधा नमक और जौखार डालकर पीने से हृदय-शूल, गुल्म और कास नष्ट होता है।

(३) मैनफल और कुटकी को सिरके में पीसकर थोड़ा गरम करके सुहाता हुआ नाभि पर लेप करने से उदर-शूल नष्ट होता है।

पांडु-रोग

(१) पुनर्नवा, हरड़, नीम, देवदारु, कुटकी, परवल, गिलोय, सोंठ, इनका क्वाथ गोमूत्र के साथ पीने से पांडु, कास, श्वास, शूल-रोग नष्ट होते हैं।

मूत्राघात

(१) मूल-सहित गोखरू के क्वाथ में मिश्री और शहद मिलाकर पीने से मूत्रकृच्छ्र या मूत्र का न आना दूर होता है।

(२) हरड़, अमलतास, गोखरू, धमासा और पाषाणभेद इनके क्वाथ में शहद मिलाकर पीने से मूत्र का न आना मिटता है।

नेत्र-रोग

(१) बड़ी हरड़, सेंधा नमक, गेरू और रसौत, इनको जल में घिसकर आँख पर लेप करने से आँखों के सब रोग मिटते हैं।

(२) मुलहठी, गेरू, सेंधा नमक, दारुहल्दी (रसौत) और सुरमा, इनको समान भाग लेकर, जल में पीसकर आँखों के बाहर लगाने से सब नेत्र-रोग शांत होते हैं।

शोथहर लेप

पुनर्नवा, दारुहल्दी, सोंठ, सरसों और सहजन की छाल, इनका चूर्ण काँजी में पीसकर लेप करने से सब प्रकार की सूजन शांत होती है।

प्रलेप

(१) शीरिष, मुलहठी, तगर, लाल चंदन, छोटी इलायची,

जटामासी, हल्दी, दारुहल्दी, कूट और खस, इन वस्तुओं का बारीक चूर्ण बनाकर, इसमें पाँचवाँ भाग शुद्ध घी मिलाकर पानी के साथ प्रलेप बना लेना चाहिए। इसका लेप करने से शीघ्र आराम होता है। इसका नाम दशांग लेप है। नाभिपाक और विसर्प में लाभकारी है।

(२) लाल चंदन, मजीठ, लोध, प्रियंगु, कूट और मसूर की राख, इनको घी में मिलाकर लगाना चाहिए। नाभिपाक और विसर्प में उपयोगी है।

(३) मुलहठी, लाल चंदन, मूर्षी, पद्माख, खस, नेत्रबाला और नल की जड़, इनका लेप नाभि पकने पर या विसर्प में करना चाहिए।

(४) पिपली, पुरानी खल, सहजन की छाल, हड़ का चूर्ण, इनको गोमूत्र में पीसकर लगाने से शोथ और खाज अच्छे होते हैं।

(५) हल्दी, दारुहल्दी, चंदन, लाल चंदन, हरड़, दूब, पुनर्नवा, खस, पद्माख, लोध, गेरू, रसौत, इनको पीसकर, पानी में मिलाकर लेप करने से रक्तजन्य या आगंतुज सूजन को आराम होता है।

(६) करंज, नीम, निर्गुंडी (सँभालू), इनके पत्तों को पीसकर किया हुआ लेप अथवा लहसन या हींग और नीम को पीसकर किया हुआ लेप व्रण के सब कृमियों को नष्ट करता है।

(७) मैनफल और कुटकी को काँजी या सिरके में पीसकर नाभि पर लेप करने से उदर-शूल शांत हो जाता है।

(८) वंशलोचन, पिलखन की छाल, लाल चंदन, गेरू और गिलोय, इनके चूर्ण को घी में मिलाकर आग से जले हुए स्थान पर लगाना चाहिए।

(९) जौ को जलाकर इनकी राख को तैल में मिलाकर लगाने से सब व्रण भर जाते हैं।

(१०) नीम के पत्ते, घी, शहद, दारुहल्दी, मुलहठी और तिल, इनका लेप व्रणों का शोधन करता और उनको शीघ्र भर देता है।

नवाँ प्रकरण

संभावित रोगों का पूर्वरूप बतानेवाली तालिका

यह तालिका इनसाइक्लोपीडिया फ़िज़िकल कल्चर से उद्धृत की गई है। बच्चों की अवस्था में इसका अधिक महत्त्व है। क्योंकि बच्चों में लक्षणों के आधार पर ही रोग का निर्णय करना पड़ता है।

(१) भूख

अवस्था	रोग
१—भूख का नाश, भूख का नियमित न लगना, नींद का समुचित रूप से न आना, बेचैनी, नासिका में कंडू, श्वास में दुर्गंध, आँखों के चारो ओर काले चक्कर, अजीर्ण, मलत्याग में बल-प्रयोग, गुदा में कंडू, दाँतों का कटकटाना, मीठी-मीठी दर्द का रहना।	१—आंत्र-कृमि
२—भूख का विशेष रूप में बढ़ना (भस्मक)।	२—मधुमेह, योषितापस्मार, मानसिक रोग, तीव्र रोग के पीछे निर्बलता, आमाशय की वात-नाड़ियों में विकार (Gastric Neurosis)
३—भूख का विशेष रूप में घटना, भोजन के उपस्थित होने पर या समय पर सर्वथा भूख का अभाव (अरोचक)।	३—आमाशय का रोग, तीव्र संक्रमण-जन्य विकार, योषितापस्मार

(२) सर्दी

लक्षण	रोग
१—सर्दी की प्रतीति होकर ज्वर, छाती में चुभता शूल, भरा श्वास, श्वास के साथ दर्द में वृद्धि, एक या दोनों पार्श्वों का आक्रमित होना, खाँसने से दर्द का बढ़ना।	१—पार्श्व-शूल
२—सर्दी, निर्बलता, उरोऽस्थि के सामने भारीपन, शुष्क विक्षोभ, दर्द के साथ खाँसी, कफ के आने से कुछ कम, श्लेष्मा-वाला बलग़म, मंद ज्वर, श्वास-काठिन्य।	२—कास
३—सर्दी और रेंगने का अनुभव मेरुदंड के साथ, थोड़ा ज्वर, सावधान या खड़े होने में अशक्ति, खाँसी का ठसका (विशेषतः रात्रि में), जोड़ों में चुभती दर्द, जंगार के रंगवाला बलग़ाम, छाती में तीव्र चुभती दर्द।	३—सन्निपात, निमोनिया
४—सर्दी के साथ तीव्र सिर-दर्द, सारे शरीर में दर्द, विशेषतः अस्थियों में, विशेष रूप से तीव्र ज्वर, गलशोथ।	४—तीव्र सर्दी का प्रारंभ, इन्फ़्ल्यूएंज़ा, तीव्र गलशुंडी शोथ,

	अन्य तीव्र संक्रामक रोग, डेंग्यु (अस्थि-ज्वर)
५—बहुत अधिक सर्दी, जिसके आधे या उससे अधिक घंटों के बाद तीव्र ज्वर, अंत में स्वेद, बार-बार नियत रूप में आक्रमण, दिन या घंटों के अंतर से।	५—मलेरिया

(३) कास

१—खाँसी	१—सर्दी का प्रारंभ
२—खाली और टूटती (ठसकेवाली) कास।	२—श्वास-प्रणाली के ऊपर के भाग की शोथ
३—शुष्क कास, जो तीव्र हो जाय, मंद ज्वर, छींकें, नाक से पानी आना, आँखों में सूजन, चेहरे की नीलिमा, शिराओं में रक्त-वृद्धि, फुप्फुस में वायु की अधिकता, कास में 'हूप' का होना (जो अंत में होता है), पीछे से वमन होना।	३—कुक्कुरकास (कुपिंग कफ)
४—गाढ़ा बलग़म, श्लेष्मा में बुलबुले (सागुदाने-जैसे), फुप्फुस में उच्च ध्वनि, रात्रि को प्रायः आक्रमण होना, छाती का विशेष आकार, श्वास-काठिन्य के कारण अधिक स्वेद आना।	४—श्वास, दमा

लक्षण	रोग
५—कास के साथ थोड़ी श्लेष्मा, बलग़म, उरोऽस्थि के सामने भारीपन, श्वास का छोटापन।	५—कास
६—फटे बाँस-जैसी कास, भारीपन, स्वरभंग, श्वास-काठिन्य एवं आक्षेपों का होना, अधिक बेचैनी, स्तन का मध्यवर्ती जकड़ा हुआ या भारी प्रतीत होना।	६—क्रुप (कुक्कुरखाँसी)
७—कास, छींकें आना, नाक से पानी बहना, श्वास में काठिन्य, सर्दी, कठोरता, सिर और मांस-पेशियों में दर्द, तीव्र ज्वर।	७—इन्फ़्ल्यूएंज़ा
८—बराबर कास का ठसका बना रहना।	८—चिरकालीन कास

(४) मलबंध

लक्षण	रोग
१—शुष्क मलबंध, गुदा की शिराओं का विकास, छोटे-छोटे टुकड़ों में मल आना, तीव्र दर्द के साथ रक्तस्राव होना।	१—अर्श
२—मल-त्याग के समय खींचनेवाला मलबंध, श्लैष्मिक कला का आना या बहुत विस्तार, गुदा की ओर कटि-प्रदेश से विक्षोभ की प्रतीति होना।	२—गुदभ्रंश

३—सिर-दर्द के साथ मलबंध, साधारण बेचैनी, मल-त्याग से स्वास्थ्य की प्रतीति।	३—चिरकालीन स्वाभाविक मलबंध
४—सिर-दर्द के साथ मलबंध, अतिसार या कोष्ठ के आक्षेपों के साथ कास।	४—चिरकालीन आंत्र-शोथ (बृहदांत्र-शोथ)
५—मलबंध, धीरे-धीरे आरंभ होना, शुष्क, तीव्र कोष्ठ-शूल के साथ।	५—सीसक विष, चिरकालीन आंत्रावरोध, आंत्रार्बुद

(५) निर्बलता

१—उत्सुकता, निर्बलता, बेचैनी, व्रण में दर्द, मंद ज्वर, निगरण में कठिनता बढ़ती जाना, ग्रीवा की पेशियों में आक्षेप, विशेषतः पानी को देखकर (जलत्रास), लाला-स्राव, आक्षेप, प्रलाप, उत्तेजना, हृदयावरोध, दम घुटना।	१—जल-त्रास
२—शक्ति और मांस में कमी, निर्बलता, भूख का नष्ट होना, नींद का टूटना, मानसिक निर्बलता, विक्षोभ, लेटे रहने की इच्छा, बेचैनी।	२—अफ़ीम के विष में प्रायः होते हैं।

(६) मल

१—श्लेष्मा-युक्त मल, मीठी दर्द, भूख का अनियमित होना, निर्बलता, रात्रि-भय, उत्पादक अंगों एवं नासिका में तीव्र कंडू, पेशियों में अकड़न, ऐंठन, आक्षेप।	१—आंत्र-कृमि
२—बुरी दुर्गंधि, अर्द्धद्रव से मल का द्रव होना।	२—अतिसार, आंत्र-शोथ
३—मल—पानी-जैसा (मॉंड़-जैसा)	३—हैजा
४—मल—द्रव, मटर के पानी से मिलता हुआ, बुरी दुर्गंधि।	४—टाइफ़ाइड
५—मल—द्रव, रक्त-मिश्रित एवं श्लेष्मा-मिश्रित, मीठी दर्द।	५—प्रवाहिका
६—मल—काला, कॉफ़ी से मिलता हुआ।	६—आंत्रों में रक्तस्राव
७—मल—कठोर, भूरा, चिकनी मिट्टी-जैसा।	७—पित्त के कारण बाधा, पित्ताश्मरी, यकृत रोग
८—मल—हरे रंग का, नर्म, खट्टी गंध, दुर्गंधिवाला।	८—शिशुओं में आंत्र-शोथ

लक्षण	संभावित रोग
९—मल—कठोर या नर्म, रक्त या पूय से मिश्रित, प्रवाह में दर्द।	९—गुदा में घातक अर्बुद, गुदा में व्रण
१०—मल—कृमि या उनके अंडों या बच्चोंवाला।	१०—आंत्र-कृमि
११—मल—आवरण की रचना लिए हुए।	११—मैंबुनस कोलायटिस (बहुत कम)

(७) ज्वर

लक्षण	संभावित रोग
१—ज्वर सर्दी लगने के बाद, तमतमाता चेहरा, आँखें लाल, भारी और तेज नाड़ी, पीठ और अंगों में दर्द, बहुत प्यास, गँदला मूत्र, स्वेद आकर ज्वर का घटना, मूत्र में वृद्धि, निर्बलता, जी मचलाना, अशक्ति, कँपकँपी, तीव्र सर्दी का बढ़ना, दाँतों का बजना, चिकनी त्वचा।	१—ज्वर—शीतज्वर
२—ज्वर, सर्दी, कोष्ठ, त्वचा पर फुंसी, बहुत-से बिखरे दाने, विशेषकर कोष्ठ पर, दो या तीन दिन में शुष्क होना, केंद्र में काले रंग की पपड़ी का छोड़ देना।	२—लघु मसूरिका

३—बृहद् मसूरिका	३— शीघ्रता से ज्वर का बढ़ना, सर्दी, वमन का होना, छोटी अस्थियों एवं पीठ (कमर) में तीव्र दर्द शुष्क त्वचा, तेज़ श्वास, चेहरे पर लाल धब्बे (पहले सिर, मुख और कलाई पर), धीरे-धीरे कठोर होना, ६ दिन में परिवर्तन होना, छाले से व्रण बनना, अंत में सूख जाना, छिलके बन जाना, दानों के बीच में त्वचा सूजी हुई, कोमल, पीले, प्रायः दुर्गंध-वाले छिलके, धब्बे लाल या नीले होते हैं।
४—टाइफ़ाइड	४—लगातार ज्वर, तीव्र दर्द, (सिर-दर्द), निर्बलता, नकसीर, भूख का नाश, कोष्ठ कठोर और शोथ-युक्त, कोष्ठ में आध्मान (गड़गड़ाहट), शूल (दबाने से), धब्बे, मटर के रस के समान, अतिसार, जिह्वा शुष्क और भूरी, दाँत और ओष्ठों पर गाढ़ा निक्षेप, प्रलाप।
	५— तीव्र ज्वर, वमन, कमज़ोरी, सर्दी, तीव्र नाड़ी, जिह्वा

	पर भारी निक्षेप, त्वचा चमकती, लाल, गला लाल, शोथ-युक्त, दर्दवाला, ग्रंथियाँ बढ़ीं, बहुत प्यास, गँदला मूत्र, स्पष्ट लाल धब्बे (प्रथम ग्रीवा और छाती पर)।
५—स्कारलैट फ़ीवर	६—ज्वर के साथ नाक बहना, पलकों में शोथ, प्रतिश्याय, गल की शोथ, कास, त्वचा पर कोष्ठ, (गुलाबी धब्बे) (प्रथम चेहरे पर, फिर कोष्ठ पर), बार-बार कास, 'कॉपलिक स्पॉट' (गालों पर नीला धब्बा)
६—रोमांतिका	७—एकदम तीव्र ज्वर, कास, जंगार के रंग का बलग़म, छाती में तीव्र दर्द, श्वास का छोटापन, ओष्ठ पर छाला, नीलिमा, तेज़ नाड़ी, श्वास और नाड़ी का अनियमित अनुपात।
७—निमोनिया	८—ज्वर, अनियमित तीव्र दर्द छाती में, शुष्क कास, खाँसने या श्वास लेने से दर्द में वृद्धि, श्वास का छोटा होना।
८—पार्श्व-शूल	९—साधारण ज्वर, आमाशय में दर्द, वमन, त्वचा का

९—पांडु, कामला	पीलापन, आँखों का पीला होना, आँखों में कंडू, सफ़ेद मल, मलबंध, मैला, काला मूत्र, मंद नाड़ी।
१०—मस्तिष्कावरण-शोथ	१०—ज्वर, तीव्र सिर-दर्द, ग्रीवा की पेशियों में कठोरता, मुख और ओष्ठ पर छाले, नीलिमा, बार-बार प्यास, सारे शरीर में दर्द, मंद नाड़ी।
११—पाषाणगर्दभ (मम्स) हापु	११—ज्वर, जबाड़े के पास की ग्रंथियों का शोथ, प्रायः प्रथम पार्श्व में, फिर दूसरे में, अंडों का शोथ।
१२—तीव्र आमवात (रोमेटिज्म)	१२—ज्वर, शोथ एवं जोड़ों में कठोरता, बार-बार स्वेद आना।
१३—एपेंडीसायटिस, परिशिष्ट शोथ	१३—ज्वर, वमन, दक्षिण वंक्षण में दर्द, मलबंध।
	१४—तीव्र अनियमित ज्वर, साधारणतः ऊँचा ताप-परिमाण, बार-बार चेतना का नाश होना, बार-बार पसीना, दर्द,

भिन्न-भिन्न ग्रंथियों का शोथ, सिर-दर्द, शरीर में कहीं विद्रधि का होना।	१४—रक्त-विष

(८) हृदय के विकार

१—हृदय की धड़कन का छाती के पीछे सुनाई देना, छोटा-श्वास, सिर-दर्द, कानों में गुंजन, धड़कन, अजीर्ण, निद्रा-नाश, छाती में भार एवं बेचैनी का अनुभव।	१—हृदय-वृद्धि
२—हृदय-भाग में दर्द, बेचैनी या उत्सुकता का भाव, श्वास-काठिन्य, ज्वर, हृदय-क्रिया का अनियमित होना, धड़कन, अशक्ति, सिर-दर्द, टाँगों में शोथ, ओटों में नीलिमा एवं उँगलियों में रक्त की कमी।	२—इनफ़िलट्रेशन ऑफ़ हार्ट
३—हृदय में चुभती दर्द, भय-प्रतोति, दम घुटना, पीला और शीत चेहरा, अनियमित नाड़ी।	३—हृदय की नर्वस का रोग
४—वाम स्कंध की तीव्र दर्द, अचानक आक्रमण।	४—एनजायना पैकटोरिस

(९) फुफ्फुस-विकार

१—श्वास के मंद होने का आक्रमण प्रायः रात्रि को होना, कुछ घंटों की खाँसी के बाद बंद होना, बलग़म आना, आक्रमण से स्वतंत्र होने पर कोई भी विकार न रहना।	१—श्वास (दमा)
२—फुफ्फुस से रक्तस्राव, छाती का जकड़ा जाना, संकुचित होना, पाँव का सूजना, थकान और मंद श्वास, क्षुधा-नाश, अपूर्ण पचन, गाल की अस्थियों पर मांस का रहना (वसा का अभाव), अनियमित ज्वर, खाँसी का ठसका, रात्रिस्वेद, भार का घटना, थोड़े श्रम से भी थकान, सफ़ेद आँखें।	२—यक्ष्मा (बढ़ी हुई)
३—श्वास-काठिन्य, छाती में दर्द, मुख में नमकीन स्वाद, रक्त से मुख का भर जाना या थोड़ा आना, चमकता लाल रंग, झाग के साथ मिला द्रव, स्वाद मीठा या नमकीन, प्रतिक्रिया क्षारीय।	३—फुफ्फुस से रक्तस्राव

४—प्रथम हल्की कास, गले में खारिश, श्वास-प्रणाली में खुजली, मंद या ज्वर का अभाव, साधारण बेचैनी।	४—कास
५—बार-बार कास का आक्रमण, थोड़ी ठंड से भी अस्वस्थता, भूख का नाश।	५—यक्ष्मा का प्रारंभ, पुरातन कास
६—छाती में दर्द, मैली जिह्वा, फुफ्फुस में शोथ, अचानक तीव्र सर्दी, छाती में दर्द, तीव्र उच्च ज्वर, उत्थला, तेज, कठिन श्वास, छोटा-कठोर शुष्क कास, पीछे से जंगाली बलग़म, तेज नाड़ी।	६—निमोनिया

(१०) वात-संस्थान

१—अंदर को घुसती हुई दर्द (बोरिंग पेन)	१—आमवात, गठिया, पैत्रिक उपदंश
२—आँखों के सामने काले धब्बे या धागे दिखाई देना।	२—दृष्टि, नाड़ी या मस्तिष्क-विकार, अजीर्ण

३—आचरण-ज्ञान का नाश होना।	३—उन्माद, प्रलाप, मस्तिष्क-शोथ, योषितापस्मार, अपूर्ण मस्तिष्क, अपस्मार, क्षीणता
४—घुसती हुई दर्द (शूटिंग पेन)	४—घातक अर्बुद, नर्व-विकार (न्युरेलजिया)
५—चुभती हुई दर्द (थ्रोविंग पेन)	५—ज्वर की शीतावस्था, वात-विकार, गिल्हड़।

(११) दर्द

१—कोष्ठ-शूल, जिसमें लगातार मल-त्याग की इच्छा रहे, अधिक कींचना पड़े, कभी भार न हटे, थोड़ा मल, जिसमें रक्त और श्लेष्मा हो।	१—प्रवाहिका

रोग	पूर्वरूप
२—(श्वेत) प्रदर	२—पीठ-दर्द, सिर-दर्द, योनि से स्राव थोड़ा या अधिक, पतला, लसी-जैसा, गंध-रहित या अधिक बदबूवाला, जलन या कंडू उत्पादक अंगों में।
३—आंत्र-शोथ	३—आँतों में मीठी दर्द, अतिसार, द्रव-युक्त मल, कभी-कभी रक्त, दबाने से दर्द, तीव्र ज्वर, तेज नाड़ी, संकुचित टाँगें या सीधा लेटा हुआ।
४—हैज़ा	४—आमाशय में ऐंठन, कोष्ठ में ऐंठन, बार-बार, अधिक मात्रा में स्राव, प्यास, सिर-दर्द, साधारण ज्वर, अधिक निर्बलता, भुजाओं का ठंडा होना, मूत्र की राशि में कमी या सर्वथा अभाव।
५—गर्भाशय-भ्रंश	५—लगातार दर्द, जो नीचे की ओर जाती प्रतीत होती है। सिर-दर्द, मलबंध, कोष्ठ के निचले भाग में भारीपन, ग्रीवा में दर्द, दबाव का अनुभव, पीठ में मंद दर्द, गर्भाशय के शिखर पर भारीपन।

६—वृक्क-प्रदेश पर मंद दर्द, जो नीचे को उतरती अनुभव हो, बार-बार मूत्र-प्रवाहण, मूत्र की राशि कम, मैला मूत्र, लाल, हल्दी के रंग का, एल्ब्युमिनवाला, रक्तवाला, सर्दी के पीछे ज्वर, बेचैनी, ख़ाली मुख, भुजाएँ सूजी और शोथ-युक्त (शोफ)	६—ब्राइट्स डिज़ीज़ (वृक्क-रोग)
७—छाती के निचले किनारे पर भारी, मंद दर्द, कास।	७—कास
८—वंक्षण में दर्द, बेचैनी, वमन, मलबंध, शीत, स्वेद, बेचैनी, आँतों का वंक्षण में उतराव, जो पीछे हटाया भी जा सकता है, और नहीं भी हटता—शोथ ग्रैंथीन।	८—आंत्र-वृद्धि
९—तीव्र दर्द (मरोड़े-जैसी या घुसती हुई), नाभि के चारो ओर दबाने या मलने से हटनेवाली, साधारणतः कोष्ठ विस्तृत, शीत स्वेद, निर्बल नाड़ी, वमन।	९—शूल (आंत्र)

१०—बेचैनी, दर्द, खाली आँखें, पीला चेहरा, तेज़, निर्बल नाड़ी, बार-बार स्राव, अधिक निर्बलता, वमन और पतला पानी-जैसा अतिसार, अति प्यास।	१०—शिशुओं का हैज़ा
११—तेज़, सहसा चीरने-जैसा छाती में दर्द।	११—पार्श्व-शूल
१२—निचले कोष्ठ में तीव्र दर्द, बार-बार मूत्र-प्रवाहण, गँदला मूत्र।	१२—मूत्राशय-शोथ
१३—तेज़, काटनेवाला कोष्ठ में दर्द, दबाने से जो बढ़ जाय, आँतों का विस्तृत होना, आँतों में वायु, उग्र ज्वर, हिचकी, बेचैनी, वमन, मलबंध, रोगी पीठ के बल लेटा हुआ, घुटने सिकोड़े हुए, अचानक शीत-प्रतीति।	१३—कोष्ठावरण-शोथ (पैरिटोनायटिस—एक्यूट)
१४—कटि-प्रदेश की पेशियों में उठनेवाला एवं दबाव से बढ़नेवाला दर्द, प्रथम एक पेशी में और फिर दूसरी में। ज्वर का प्रायः अभाव।	१४—कटि-शूल

१५—सर्दी और ज्वर के साथ पीठ में तीव्र दर्द, वमन, मूत्र में प्रायः शर्करा या रक्त होता है।	१५—वृक्काश्मरी
१६—कोष्ठ के ऊपरी भाग में तीव्र शूल, यकृत-प्रदेश पर दबाने से दर्द, वमन, मलबंध, मृदु पांडु, काला, मैला मूत्र।	१६—पित्तशूल (बिलयरी कॉलिक—पित्ताश्मरी)
१७—मूत्राशय-प्रदेश पर तीव्र दर्द, विशेषतः मूत्र-प्रवाहण के बाद, बार-बार मूत्र-त्याग, गँदला मूत्र, प्रायः मूत्र-प्रवाहण के बाद रक्त की कुछ बूँदों का आना।	१७—मूत्राशय में अश्मरी

(१२) नाड़ी की गति*

१—नाड़ी की गति ६० से ११०, नियमित, ज्वर का अभाव।	१—हृदय के रोग, यक्ष्मा का प्रारंभ
२— ,, ,, ,, ६० से ११०, नियमित, कठोर, ज्वर-अभाव।	२—वृक्क-शोथ (निफ्राइटिस)
३— ,, ,, ,, ६० से १५० या अधिक, अनियमित, ज्वर-अभाव, शोफ।	३—हृदय का रोग (शोचनीय अवस्था)

* नाड़ी की संख्या स्वस्थ अवस्था में युवा व्यक्ति की एक मिनट में ७० से ८० होती है। नाड़ी की गति नियमित एवं मध्यम श्रेणी की मृदुतावाली होती है।

४—नाड़ी की गति १५० से अधिक, मूर्च्छा, स्वेद।	४—मूर्च्छा (कॉलेप्स) की भूमि
५— ,, ,, ,, १२० से १५० या अधिक, ज्वर-अभाव, साधारणतः नियमित।	५—हृदय की धड़कन का साधारण आक्रमण (ट्रैकिकार्डिया)
६—नाड़ी की गति १२० से १५० या अधिक, ज्वर-अभाव, साधारणतः नियमित, आँखों का बाहर निकलना, हाथों में कँपकँपी, गिल्हड़ का होना।	६—एक्जोपथॉलमिक गॉयटर
७—नाड़ी की गति १०० से १२०, भरी, नियमित, ज्वर।	७—सब संक्रामक रोग
८— ,, ,, ,, १२० से १५० या अधिक, मूर्च्छा, अनियमित, धागे-जैसी, ज्वर।	८—संक्रामक रोग (शोचनीय अवस्था), मस्तिष्कावरण-शोथ की बढ़ी अवस्था
९—नाड़ी मंद (६० से ८०), नियमित या थोड़ी अनियमित, ज्वर, सिर-दर्द, वमन।	९—मस्तिष्कावरण-शोथ का प्रारंभ

नाड़ी मंद (५० से ७०), नियमित या थोड़ी अनियमित, कठोर एवं जोरदार (न दबनेवाली)।	१०—आर्टियरल स्क्लीरोसिस
११—नाड़ी मंद (५० से ७०), नियमित, त्वचा का पीला रंग, ज्वर का होना और न होना।	११—कामला
१२—नाड़ी मंद (३० से ५०), अनियमित, ज्वर का अभाव।	१२—हृदय के चिरकालीन रोग (पंजायना या अन्य रोग)

(१३) शोथ

१—ग्रीवा-वंक्षण और भुजा की ग्रंथियों का शोथ एवं पाक, निर्बलता, क्षीणता, स्वेद, विशेषतः ग्रीवा के समीप।	१—गंडमाला, अपची (स्कैफ्युला)
२—हाथ, पाँव टाँगें, कोष्ठ और छाती का शोथ, कठोर पृष्ठ, दबाने के बाद गड्ढा बना रहना।	२—शोथ (फुफ्फुस, वृक्क, यकृत और हृदय के विकार)
३—सूजन रक्तिमा के साथ, उष्णिमा, दबाने मे दर्द, पूयोत्पत्ति।	३—विद्रधि
४—बिना दर्द का शोथ, निकंठ-कंठ-ग्रंथि के आकार में	

परिवर्तन, बढ़ने पर श्वास-क्रिया पर प्रभाव करता है, सिर-दर्द, लाल चेहरा, चुभता हुआ दर्द भी हो सकती है।	४—गिल्हड़।

(१४) ताप-परिमाण*

१—न्यून ताप-परिमाण।	१—निर्बल रक्त-संचार, मूर्च्छा।
२—शीत पाँव और हाथ।	२—निर्बल रक्त-संचार, वात-रोग।
३—स्थानिक बाह्य उष्णिमा।	३—शोथ।
४—अति उच्च ताप-परिमाण (११० तक)	४—वात-संस्थान के रोग में या उसी रोग (मस्तिष्कावरण-शोथ आदि) में मृत्यु हो जाती है।

(१५) मूत्र की अवस्था

१—मूत्र में एल्ब्युमिन का आना।	१—ब्राइट्स डिज़ीज़।

* ज्वर भी देखिए। ७ संख्या।

२—मूत्र-प्रवाह में जलन, मूत्र का रुक-रुककर आना, मूत्र-मार्ग में तीव्र दर्द, मूत्र में शर्करा या रक्त, मूत्र की धारा का सहसा अवरोध।	२—मूत्राशय की अश्मरी।
३—मूत्र-राशि का घटना।	३—शोफ।
४—मूत्र-प्रवाहण का बढ़ना।	४—मधुमेह, योषितापस्मार।
५—मूत्राशय में मूत्र का अवरोध।	५—पक्षाघात, टाइफ़ाइड-ज्वर, अष्ठीला-ग्रंथि की वृद्धि।
६—लाल या पीली शर्करा का मूत्र में निक्षिप्त होना (यूरिक एसिड)।	६—ज्वर, तीव्र आमवात, मानसिक उदासी।
७—मूत्र में शर्करा।	७—मधुमेह।
८—मूत्र काला, मल सफ़ेद, त्वचा पीली, आँखों में सफ़ेदी।	८—कामला।
९—मूत्र मैला, पूय से मिश्रित, प्रवाहण दर्दवाला, मूत्र-मार्ग में शलाका-प्रवेश से दर्द, उत्पादक अंगों में दर्द।	९—औपसर्गिक मेह (गोनोरिया)।

(१६) कोष्ठ

१—कोष्ठ आकार में घट जाय।	१—चिरकालीन प्रवाहिका, मस्तिष्कावरण-शोथ।
२—आमाशय-प्रदेश की वृद्धि (एपिगैस्ट्रियम)।	२—योषितापस्मार, आमाशय में घातक अर्बुद।
३—कोष्ठ के निचले भाग में वृद्धि (हाइपोगैस्ट्रियम)।	३—मूत्राशय का विकास, डिंब-प्रणाली का अर्बुद, आँतों में मल-संचय, शोफ, आँतों में वायु।

(१७) छाती

१—छाती के एक भाग में साधारण वृद्धि होना।	१—पार्श्व-शूल से पानी का संचय होना।
२—पसलियों की मांसपेशियों से ही केवल श्वास लेना।	२—कोष्ठ-शोथ, वक्षोदर मध्यस्थ पेशी का शोथ।
३—उथला श्वास।	३—पार्श्व-शूल।

४—थोड़े परिश्रम से श्वास।	४—आक्षेप-जन्य श्वास।
५—तेज़ श्वास।	५—पुप्फुस का शोथ।
६—फुप्फुस के आधार में वृद्धि।	६—पार्श्व-शूल से पानी भरना, निचले खंड के चारों ओर एकत्र होना।
७—छाती के सामने, ऊपर के भाग में वृद्धि।	७—गंफाई सीमा-एन्युरोज़्म।
८—हृदय-प्रदेश पर वृद्धि।	८—हृदय की थैली में पानी भरना, हृदय-वृद्धि।
९—छाती के दक्षिण पार्श्व में वृद्धि।	९—यकृत-वृद्धि।
१०—टूटता-काँपता हुआ श्वास।	१०—आक्षेप-जन्य श्वास।

(१८) कान

१—शोथ, दर्द, पटल का शोथ, मध्य कर्ण की ऋला का शोथ, पूय के साथ द्रव स्राव।	१—कर्ण-शोथ (ओटायरिस मीडिया)।

(१९) पलक

पूर्वरूप	संभावित रोग
१—पलकों में छोटी पिटिका, उष्णता, रक्तिमा, शोथ और शीघ्र स्राव होना।	१—अंजन आरी (स्टाई)
२—शोथ, पलकों की अंतःकला का मोटा होना, ऊपर की पलक में कुकरों का होना।	२—ट्रिकोमा

(२०) सिर और चेहरा

पूर्वरूप	संभावित रोग
१—जबाड़ों की ग्रंथियों का शोथ—एक दूसरे के पीछे, लाला में वृद्धि, सर्दी, निर्बलता, साधारण ज्वर, जबाड़े के कोने में दर्द।	१– हापु (मंप्स)
२—भरा, लाल चेहरा, आँख की रक्त-प्रणालियाँ भरी हुई।	२—हृदय - क्रिया की कमी, मस्तिष्क-शोथ
३—सिर का एक पार्श्व में झुक जाना।	३—आक्षेप, ग्रीवा की अस्थि की स्थान-च्युति, ग्रीवा की ग्रंथियों का शोथ

४—आकार में सिर का बढ़ना।	४—चिरकालीन सिर में पानी भरना (हाइड्रो सिफ़लिस)
५—फीका चेहरा।	५—यक्ष्मा
६—निर्बल, पीला चेहरा।	६—ज्वर की शीतावस्था में, चिरकालीन रोग में
७—पीला या भूरा-सा चेहरा।	७—रक्त-कमी (एनीमिया)
८—पीला चेहरा।	८—कामला
९—नासिका में कंडू।	९—कृमि, अन्न-प्रणाली की अस्वस्थता, प्रतिश्याय
१०—मुख और पलकों का शोथ।	१०—ब्राइट्स डिज़ीज़
११—माथे पर झुर्रियाँ पड़ना।	११—तीव्र बाह्य दर्द
१२—माथे से नासिका की जड़ तक झुर्रियाँ पड़ना।	१२—बेचैनी, उत्सुकता, तीव्र आंतरिक वेदना

(२१) स्वेद

लक्षण	संभावित रोग
१—एमोनिया की गंध का स्वेद।	१—टाइफाइड
२—स्वेद की न्यूनता।	२—शोफ, मधुमेह
३—रात्रि-स्वेद।	३—यक्ष्मा
४—अति स्वेद।	४—तीव्र आमवात (कई बार मुख्य रूप लक्षण है)
५—खट्टी गंधवाला स्वेद।	५—गठिया

(२२) स्थिति

लक्षण	संभावित रोग
१—सर्वथा चेष्टा-रहित।	१—केटेलैप्सी, संन्यास, कोमा
२—अंगों के हिलाने में अशक्ति, घबराया हुआ चेहरा।	२—पक्षाघात
३—शरीर में साधारण वृद्धि।	३—साधारण शोथ
४—बड़ी और एक समान लंबाई।	४—तीव्र रोग का प्रारंभ
५—सिर का पीछे गिर जाना।	५—श्वास-प्रणाली एवं लैरिक्स के रोग

६—पीठ के बल लेटना।	६—संन्यास, मस्तिष्क के अवयव के रोग में, जोड़ों के आमवात में
७—मुख के बल लेटना (उलटा लेटना—पेट के बल)	७—शूल में
८—पार्श्व के बल लेटना।	८—पार्श्व-शूल में, निमोनिया में (रुग्ण पार्श्व को नीचे रखकर रोगी सोता है)
९—केवल बैठे रहना।	९—हृदय-रोग में, फुफ्फुस के उन रोगों में, जिनमें कास कष्ट देती है।
१०—बेचैनी, करवटें बदलते रहना।	१०—तीव्र शोथ के प्रारंभ में, वृक्क-शूल में

(२३) त्वचा

१—तमतमाता चेहरा।	१—तीव्र रोग का प्रारंभ (स्कारलैट फ़ीवर)
२—काली, लाल, दर्द-युक्त शोथ, जिसके चारों ओर भूरी, लाल त्वचा, जो प्रायः पीठ, ग्रीवा, नितंब पर हो।	२—प्रमेह-पिटिका (कार्बंकल)
३—पीलापन।	३—एनीमिया, रक्त-स्राव के कारण रक्त-न्यूनता
४—दबाने से दर्द।	४—स्थानिक शोथ, न्यूरेलजीया, नर्व का शोथ (न्युराइटिस)
५—त्वचा का शोथ, पानीवाली फुंसियाँ, जिन पर छिलके बनें, कंडू, जलना, पानी-जैसा पीला स्राव, छिलके के नीचे से पानी चूना या शुष्क छिलके, फुंसियों के समीप कंडू।	५—विसर्प रतव (एक्जिमा)
६—ज्वर, सर्दी, रुग्ण प्रदेश पर रेंगने का अनुभव, रुग्ण	

प्रदेश चिकना, चमकता, लाल या भूरा, सूजा, कठोर, मलबंध, क्षुधा-नाश ।	
७—सारे शरीर पर (प्रथम छाती पर) चमकते, लाल धब्बे, जो त्वचा के पृष्ठ से ऊँचे न उठना, ज्वर, गलशोथ ।	६—एरीस पैलिस
८—दाने, जो स्कारलैट फ़ीवर से मिलते हैं, ज्वर और गल-शोथ का अभाव ।	७—स्कारलैट फ़ीवर
	८—औषध का प्रभाव (यथा कबाबचीनी, एंटीपायरोज आदि)
६—पीले या ईंट के रंग के, बिखरे हुए, छोटे दाने प्रथम मुख पर, फिर कोष्ठ और भुजाओं पर, कंडू और ज्वलनवाले, छींकें, स्वर-भंग, कास, आँख-नाक से पानी बहना, लाल आँखें, साधारण ज्वर, प्रकाश की असहिष्णुता ।	६—रोमांतिका
१०—दाने पीले या काले-लाल, कठोर, प्रथम मुख पर, फिर अन्यत्र, पीठ में दर्द, वमन, उच्च ज्वर, कुछ दिनों बाद पैप्युल्स, फिर छाले और अंत में छिलके बनते हैं ।	१०—मसूरिका (चेचक)

११—बहुत-से बिखरे समूहों में दाने, प्रथम मुख पर, फिर सारे शरीर पर, जो २४ घंटे में छाले बन जाते हैं, मृदु ज्वर, पीठ में दर्द का अभाव।	११—लघु मसूरिका
१२—उत्पादक अंग पर लाल, दर्द-रहित, कठोर शोथ, जो बढ़कर बीच में फट जाता और एक व्रण बन जाता है, समीपवर्ती ग्रंथियाँ सूज जाती हैं, कठोर हो जाती हैं, साधारण स्वास्थ्य में कोई विकार नहीं आता।	१२—फिरंग रोग, उपदंश, सिफ़लिस (प्रथमावस्था)
१३—मंद, ताम्र रंग के कोठ, छाती-कोष्ठ, भुजाओं, कंधों, उत्पादक अंगों पर, गले में व्रण, टॉसिल, गलशोथ, साधारण ज्वर, चिरकालीन सिर-दर्द, घुसता हुआ दर्द, अपचन।	१३—फिरंग रोग (संक्रमण के ६ से ८ सप्ताह पश्चात्)
१४—सूजन, दर्द, पूयोत्पत्ति, वेधन की ओर रुचि।	१४—विद्रधि

(२४) आमाशय

१—अधिक मरोड़ा, चुभता हुआ आमाशय में दर्द, प्रायः पीछे को निकलती मूर्च्छा, दबाव से कुछ आराम हो जाय।	१—दर्द, जिसका भोजन के साथ कोई भी संबंध नहीं (न्यूरेलजीया)

दर्द, जो दूध से बंद हो जाय (आमाशयिक व्रण)	
दर्द, जो भोजन से बढ़ जाय (गैस्ट्रायटिस)	
२—आमाशय का घातक अर्बुद	२—अम्ल की न्यूनता, अजीर्ण, आध्मान, भूख की न्यूनता, श्वास में दुर्गंध, अधिक निर्बलता, क्षीणता, वमन, काफ़ी के रंग का वमन, जो रक्त से रँगी हो, लगातार थोड़ा या बहुत दर्द बना रहे।
३—शिशुओं में शूल	३—अचानक बेचैनी, पाँव का लड़खड़ाना, हाथों की मुट्ठियाँ भरना या तानना, टाँगों को सिकुड़ना, फैलना, आध्मान, कोष्ठ का संकोच-विकास, संपूर्ण शरीर का संकोच।
४—अजीर्ण।	४—क्षुधा-नाश, भारीपन, बेचैनी, जिह्वा मैली, कभी-कभी वमन।

(२५) गला

१—स्त्रियों में यौवन का प्रारंभ।	१—गले का बढ़ना।

२—गले के समीप शोथ होना।	२—ग्रंथियों का बढ़ना।
३—ग्रीवा की ग्रंथियों में शोथ, गले में श्वेत झिल्ली का बनना, निर्बल नाड़ी, सर्दी, गँदला मूत्र, साधारण ज्वर, गल-शोथ और कठोरता।	३—रोहिणी (डिफ्थीरिया)
४—शोथ, रक्तिमा, स्पंजी मसूड़े, मुख की अंतःकला पर श्वेत धब्बे, ज्वर, दर्द, मुख में पानी आना, श्वास में दुर्गंध।	४—सर्वसर (थ्रश)
५—शोथ-युक्त टौंसिल, निगरण में काठिन्य, तीव्र दर्द, ज्वर, सिर-दर्द, टौंसिल पर धब्बे।	५—टौंसिलायटिस।
६—बढ़े हुए टौंसिल, मुख से श्वास, टौंसिल पर छोटी छोटी गुहाएँ, जिनमें चिकना द्रव भरा है, निगरण में काठिन्य, घुर्राटे मारने का स्वभाव, श्वास में दुर्गंध, बाधिर्य, भारी आवाज़।	६—टौंसिल्स का बढ़ना (एडिनायटिस)

(२६) जिह्वा

१—नर्म श्वेत कोटिंग ।	१—आमाशय-विकार या आंत्र-विकार अथवा दोनों ।
२—जिह्वा फटी हुई और शुष्क ।	२—तीव्र स्थानिक शोथ ।
३—जिह्वा शुष्क, कठोर, काली, भूरी, कठिनता से बाहर निकले ।	३—टाइफ़स ज्वर की तीव्रावस्था में ।
४—जिह्वा श्वेत, कला अति लाल, लाल दाने ।	४—स्कारलैट फ़ीवर ।
५—ऊपरी पृष्ठ स्वच्छ, व्रण, जो जिह्वा के किनारे होंगे, दाँत रगड़ता रहता है ।	५—तेज दाँत से जिह्वा पर व्रण
६—गहरी, मैली, भूरी, हरी व्रण (जल्दी ही किनारे भर जानेवाले), गलशोथ, उपदंश का इतिवृत्त, रोगी प्रायः ४० वर्ष की आयु का, जबाड़े की ग्रंथियाँ बढ़ी हुईं ।	६—उपदंश - जन्य जिह्वा का व्रण ।

७—यक्ष्मा-जन्य जिह्वा का व्रण।	७—व्रण—गहरे या उथले किनारों के (जो धीरे रोहण करते हैं), रोगी प्रायः ४० वर्ष की आयु से कम, अवयव का यक्ष्मा-रोग की उपस्थिति या अभाव, जवाड़े के नीचे की ग्रंथियाँ विशेष रूप से नहीं बढ़ी होंगी।
८—जिह्वा का घातक अर्बुद।	८—व्रण—गहरे, धीरे रोहण करनेवाले, किनारोंवाले, कठोर, कटे हुए किनारे, जवाड़े के नीचे की ग्रंथियाँ कठोर एवं शोथयुक्तता, रोगी ४० वर्ष से ऊपर का, साधारणतः शरीर में क्षीणता उपस्थित होती है।

दसवाँ प्रकरण

स्थानिक वेदनाओं के कारण दिखानेवाले चार चित्र

चित्रों में दर्दों के स्थान दिखा दिए गए हैं। साथ में संख्या है। आप संख्या का विवरण देखकर जान सकते हैं कि इस स्थान पर दर्द किन-किन कारणों से होता है। बच्चों का स्वभाव होता है कि वे दर्द के स्थान पर हाथ रखते हैं, और दूसरों को छूने नहीं देते।

A
B
G
D
E
F
G
H
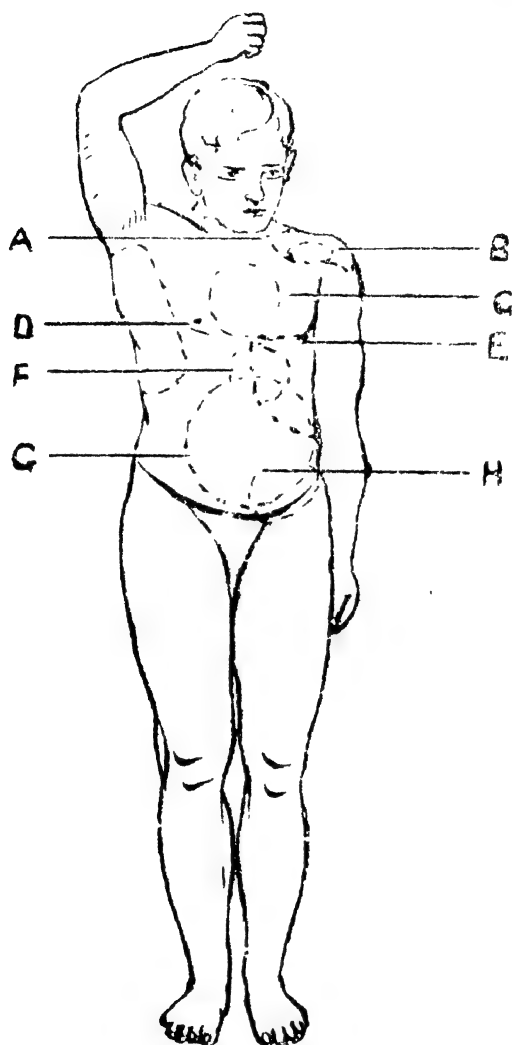
A—न्युरेलजिया, आमवात, एनजायना पैक्टोरिस, पार्श्वशूल, मांसपेशी का दर्द (यथा पत्थर या गेंद के फेकने से), भुजा के अनुचित उपयोग से।

B—एनजायना पैक्टोरिस, पार्श्वशूल, यक्ष्मा, न्युरेलजिया।

C—कास, हृल्लास, हृदय-रोग, अस्थि के रोग या मीडयास्टरनम (स्तनों का मध्यवर्ती भाग) के रोग, एन्युरीज्म (रक्तार्बुद), तीव्र विष (एक्युट पोयाजनिंग)।

D—पार्श्वशूल, कास, यक्ष्मा, छाती का आघात, छाती का अर्बुद, न्युरेलजिया (नर्व का दर्द), हर्पी।

E—पार्श्वशूल, पैरीकार्डायटिस (हृदयावरण - शोथ), निमोनिया, आमाशय के रोग, क्लोम और यकृत् के रोग।

F—पित्ताश्मरी, हृल्लास, मलबंध, आमाशय-व्रण, आमाशय में वायु, क्लोम का व्रण, क्लोम के रोग।

G—उदरावरण-शोथ (पेरीटोनायटिस), आंत्रशोथ, अतिसार-प्रवाहिका, कृमि, टायफाइड, सीसक विष, आंत्र-यक्ष्मा, मलावरोध, न्युरेलजिया, अस्थिर वृक्क (फ्लोटिंग किडनी), इन्फ्लुएंजा।

H—आंत्र-वृद्धि, वृक्क-शूल, पिटिका, मलबंध, अंड के रोग, अष्ठीला का रोग।

A
B
C
E
D
F
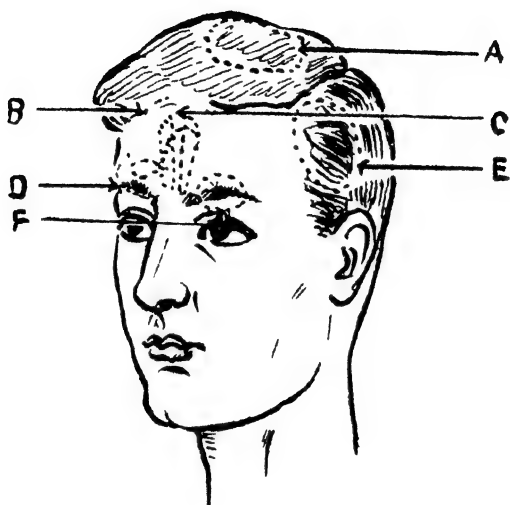
A—एनीमिया (रक्त-न्यूनता), न्युरेसथीनिया, योषितापस्मार, अपस्मार, मदात्यय, मूत्राशय के रोग।

B—मलबंध, मदात्यय, न्युरेसथीनिया।

C—नासिका प्रतिश्याय।

D—आँख के रोग, आमाशय के रोग, सिर में शीत, नाड़ी-व्रण-रोग।

E—अर्द्धावभेदक (एक पार्श्व में अति तीव्र वेदना), न्युरेलजिया, दूषित दंत, आँख पर जोर।

F—आँख पर जोर, सिर में शीत, न्युरेलजिया।

A
B
C
D
E
F
G
I
H
J

A—रक्त-न्यूनता (एनीमिया), न्युरसथीनिया, अपस्मार, योषितापस्मार।

B—अर्द्धावभेदक, आँख पर भार, योषितापस्मार, मदात्यय, न्युरसथीनिया, अफ़ीम और अन्य औषध, विष।

C—सिर-दर्द, रोगजन्य मलबंध, आँख पर भार, कर्ण-रोग, मस्तिष्क की त्रिशिरा (ट्रायजिमनल) या पाँचवीं नर्व (फ़ेशियल) के कारण न्युरेलजिया।

D—स्त्रियों में डिंबाशय और गर्भाशय के रोग।

E—मेस्टॉयटिस (शंखास्थि का शोथ), कर्णरोग, न्युरेलजिया, हापु (मंप्स), दंतशूल।

F—न्युरेलजिया, न्युरसथोनीया, मलबंध, उदासीनता, मदात्यय, अफ़ीम और अन्य औषध, विष।

G—दंतशूल, न्युरेलजिया, हनु का घातक अर्बुद, एंटरम का रोग।

H—दूषित दाँत, हापु, न्युरेलजिया, लाला-ग्रंथि का अवरोध, एक्लीनोमॉयसिस।

I—गलशुंडी-शोथ (टॉंसिलायटिस), श्वास-प्रणाली के उपरिभाग का शोथ (लैरंजायटिस), गंडमाला, अपची, यक्ष्मा-जन्य ग्रंथि, विष, गलशोथ (यथा, रोहिणी, डिप्थीरिया या स्कारलेट फ़ीवर में)

J—यक्ष्मा-जन्य ग्रंथि, मेरुदंड की अस्थियों के रोग, मांसपेशियों का खिंचाव, एन्युरीज़्म (रक्तार्बुद), फुफ्फुस के शिखर में यक्ष्मा।

A
B
C
B
E
F
G
H
I
J
K
L
M
N

A—सैरी ब्रो स्पाइनल मैनन जायटिस (मस्तुलुंग-जन्य मस्तिष्कावरण शोथ), लघु मस्तिष्क का अर्बुद, मलबंध, न्युरेलजिया, न्युरेसथीनिया, योषितापस्मार, रक्त-न्यूनता, हस्त-मैथुन, दूषित दंत, कर्ण-रोग, उपदंश।

B—(मेरुदंड के साथ) मेरुदंड के रोग, स्तन के मध्य-वर्ती भागों (मीडियास्टरनम) का अर्बुद, योषितापस्मार, न्युरसथीनिया, तीव्र संक्रामक रोग, स्पाइनल कर्वेचर (मेरुदंड की वक्रता), स्पाइनल कालम के रोग।

C—कास, आमाशय के रोग।

D—प्लीहा के रोग।

E—वृक्क के समीप विद्रधि, वृक्काश्मरी के गुजरने से शूल, न्युरेलजिया, मांसपेशी का दर्द या आक्षेप, प्लीहा-रोग के कारण।

F—यकृत और पित्ताशय के रोग।

G—कटिशूल, मलबंध, बृहदांत्र के रोग।

H—स्त्रियों में गर्भाशय के रोग, पुरुषों में अष्ठीला के रोग।

I—न्युरेलजिया, नितंब-संधि के रोग, स्त्रियों में डिंब के रोग।

J—मलबंध, गृध्रसी (सियारिका), अष्ठीला के रोग, व्रण या गुदा का अर्बुद, लोकोमोटर एटैक्सिया (लड़खड़ाकर चलना)।

K—वस्ति-गह्वर के रोग।

L—मांसपेशी के आक्षेप (ऐंठन), मद्य के कारण......, गठिया, उपदंश, मधुमेह, सीसक विष, वेरी कोज़ वीन (नस में रक्त की वृद्धि के कारण वक्रता), इंफ्लुएंजा, टिचनाईसिस, चिरकालीन वृक्कशोथ (निफार्याटिस) ।

M—गठिया, न्युरसथीनिया, स्त्रियों में डिंबाशय के रोग ।

N—अनुचित रूप से अधिक भार, चपटा पाँव, गृध्रसी ।

स्त्रियों के पढ़ने योग्य पुस्तकें

जच्चा

(द्वितीयावृत्ति)

लेखक, कविराज श्रीप्रतापसिंह वैद्य। संतानोत्पत्ति चाहने-वाली स्त्रियों के उपयोग की प्रायः सभी बातें इसमें दी गई हैं। छोटी-छोटी बालिकाओं को सँभालने का भी उपदेश दिया गया है। प्रसूतिका स्त्रियों के जानने-योग्य बातें, गर्भ-रक्षा के उपाय, संतानोत्पत्ति के बाद के कर्तव्य, बड़ी सरल भाषा में, समझाए गए हैं। प्रत्येक गृहिणी को इसे पढ़कर अपनी तथा अपनी कन्याओं की, जो भावी माताएँ हैं, इस विषय के अज्ञान से उत्पन्न होनेवाली व्याधियों से रक्षा करनी चाहिए। ३००० का प्रथम संस्करण हाथोंहाथ बिक गया। दूसरे संस्करण में मैटर अधिक बढ़ा देने से इसकी उपयोगिता अधिक हो गई। पृष्ठ-संख्या १६०, कवर पर एक रंगीन चित्र भी। मूल्य ॥=), स्टिफ़ कवर ॥|), सजिल्द १=)

धात्री-शिक्षा

लेखक, वैद्यराज श्रीअत्रिदेव गुप्त विद्यालंकार। पुस्तक के नाम से ही उसका महत्त्व समझ लीजिए। अब तक हिंदी-संसार में कोई ऐसी पुस्तक न थी, जिससे धात्री (Nurse) लाभ उठा सकें। लेखक ने इस पुस्तक को लिखकर एक बहुत उपयोगी विषय की पूर्ति की है। पुस्तक में प्रसव-संबंधी सभी विषयों पर अच्छी तरह प्रकाश डाला गया है, और कठिन

स्थलों पर आवश्यकीय अनेक चित्र देकर विषय को सबके समझने-योग्य बनाने में कोई बात उठा नहीं रक्खी गई है। इसके लिये लेखक को जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। भाषा इतनी सरल है कि थोड़े पढ़े-लिखे भी इस विषय को सहज ही में समझ सकते हैं। इसकी अधिक प्रशंसा न कर केवल इतना ही बतला देना काफ़ी है कि पुस्तक पढ़ लेने पर अन्य कोई प्रसव-संबंधी बात जानने को बाक़ी नहीं रह जाती। छपाई-सफ़ाई और गेट-अप अत्यंत सुंदर। १६ हाफ़टोन और ३५ रेखा-चित्र। मूल्य २), सजिल्द २॥)

गुप्त संदेश

(तृतीयावृत्ति)

लेखक, डॉ० युद्धवीरसिंह। यह पुस्तक भारतीय ललनाओं के लिये लिखी गई है। झूठी लज्जा के वश होकर न वे जननेंद्रिय-संबंधी रोगों का पूरा हाल ही जान सकती हैं, और न उनका कुछ उपाय ही कर सकती हैं, जिसके कारण संसार के अलौकिक आनंद का अनुभव करना तो दूर रहा, वे अकाल ही मृत्यु का शिकार बन जाती हैं। इस अनोखी पुस्तक में डॉक्टर साहब ने बड़ी सरल भाषा में जननेंद्रिय-संबंधी सभी ज्ञातव्य विषय लिखे हैं। पुस्तक अपने ढंग की निराली है। प्रत्येक घर में इसकी एक प्रति अवश्य रहनी चाहिए। युवतियों, भारत की भावी माताओं, को इसे पढ़कर अवश्य लाभ उठाना चाहिए। थोड़े ही समय में इसके तीन संस्करण हो चुके, इसी से पुस्तक की उपयोगिता प्रकट होती है। इस आवृत्ति में कहीं-कहीं संशोधन भी कर दिया गया है। मूल्य दो भाग का १), सजिल्द १॥)

मिलने का पता—गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ